इकाई–1 योग

इकाई की संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 योग : सामान्य परिचय

1.2 योग शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

1.3 योग की परिभाषाएं

1.4 योग के प्रकार

1.5 योग के स्रोत

1.6 योग के आदि प्रणेता

1.7 वेदों में योग

1.8 उपनिषदों में योग

1.9 गीता में योग

1.10 अभ्यास प्रश्न

1.11 संदर्भ ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस पाठ के माध्यम से आप निम्न उद्देश्यों को जान पायेंगे–

1. योग के सामान्य ज्ञान से परिचित हो सकेंगे।
2. योग का परिचय एवं प्रकारों को जान पाएंगे।
3. वेद, उपनिषद् एवं गीता में योग की जानकारी कर सकेंगे।

भारत में प्राचीन काल से ही योग पद्धतियां प्रचलित हैं। उनकी दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराएं भिन्न–भिन्न हैं। वर्तमान युग में कोई इन परम्पराओं से अंशतः या पूर्णतः सहमत हो या न भी हो पर उनकी व्यवहारिक उपयोगिता निर्विवाद रूप से उभरकर सामने आई है। इनकी बढ़ती उपयोगिता के कारण वैज्ञानिक व जनसामान्य, दोनों की इस विषय में रुचि बढ़ती जा रही है। आज जहां व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व विकास की अपेक्षा की जाती है तो उस संदर्भ में आमतौर पर यह कहा जा रहा है कि योग के समग्र अभ्यास से व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास में अत्यधिक सहायता मिलती है। भारतवर्ष में योग का उद्भव हजारों वर्ष पहले हुआ। यहां तब से आज तक इसका न्यूनाधिक अभ्यास अनवरत चला आ रहा है। पश्चिम में कुछ दशक पहले तक इस योग–विज्ञान को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। निरी भौतिकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के बढ़ते आकर्षण ने अनकों शारीरिक, मानसिक और सामाजिक समस्याएं पैदा कर दीं। उसके समाधान के लिए योग विज्ञान के प्रति जन सामान्य और वैज्ञानिकों की भी रुचि बढ़ी। वैचारिक मन्थन प्रारम्भ हुआ कि जीवन में शान्ति कैसे मिले? इसके लिए योग का उपयोग किया गया। अनुसंधान हुए और सार्थक परिणाम आए जिसमें आशा की किरण नजर आई। लगने लगा कि जीवन में शान्ति–पथ है–योग। यह **जीवन विज्ञान** भी है, **जीवन शैली** भी है और **जीने की कला** भी है। योगविद्या सम्पूर्ण जीवन दर्शन है। वह एक ओर जीवन के आदि, मध्य और अन्त को प्रकाशित करता है वहीं दूसरी ओर इसका मार्ग भी प्रस्तुत करता है। इसका उद्देश्य सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास, संयमित, शान्त व संतुलित जीवन, स्वस्थ समाज का निर्माण एवं परम तत्त्व की अनुभूति है।

1.1 योग : सामान्य परिचय

योग का सामान्य परिचय निम्न प्रकार है–

1. संन्यासी वेश नहीं, समता का अभ्यास है– प्रायः यह देखा जाता है कि योगी का नाम सुनते ही सामान्यतः व्यक्ति में गेरुए वस्त्र धारण किये हुए किसी सन्यासी, जटाधारी महात्मा या किसी फकीर की तस्वीर उभरती है। वस्तुतः किसी वेश विशेष का योग से सम्बन्ध नहीं है। योग के अभ्यास के लिए वैसा आवश्यक भी नहीं है। यह अन्तर जीवन का समत्व भाव है, समता का अभ्यास है।

2. जीवन से पलायन नहीं, जीवन जीने की कला है– योग जीवन की वास्तविकताओं से पलायन नहीं है। यह जीवन की समग्र अर्हताओं के विकास द्वारा संतुलित व संयमित जीवन जीने की मार्ग है।

3. अकर्मण्यता नहीं, परम पुरुषार्थ है– कर्त्तव्य व दायित्वों से विमुख होकर मात्र भाग्यवादी, अकर्मण्य या पुरुषार्थहीन होना योग नहीं है। यह अनासक्त जीवन जीते हुए स्वयं की पहचान है। स्वयं की क्षमताओं के विकास के लिए परम पुरुषार्थ है।

4. तामसिक तप नहीं, सात्त्विक साधना है– शरीर को व्यर्थ कष्ट देना जैसे घण्टों एक पांव पर खड़े रहना, सांस रोककर जमीन के अन्दर बिना हवा पानी के रहना, नाड़ी या हृदय की धड़कन को रोकना आदि योग नहीं हैं परन्तु अपने मन, श्वास, शरीर तथा भावों की शुद्धि कर चेतना का अनुभव करना योग है।

5. प्रदर्शन नहीं, अंतर की पवित्रता है– योग हाथ की सफाई, जादू–टोना, चमत्कार, प्रतियोगिता अथवा प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। कोई दौड़ या परेड भी नहीं है। योग का माप्दण्ड कोई बाहर की वस्तु नहीं होकर अन्तर् की पवित्रता व निर्मलता है।

6. आसन नहीं, अध्यात्मिक प्रशिक्षण है– योग शारीरिक क्रियाओं अथवा आसनों तक सीमित नहीं है। कठिन आसन करने वाला ही बड़ा योगी होगा ऐसी धारणा ठीक नहीं है। योग शारीरिक प्रशिक्षण ही नहीं है, इसके साथ मूलतः मानसिक, भावनात्मक व आध्यात्मिक प्रशिक्षण है।

7. कोरा दर्शन नहीं–सम्यक् समन्वय है– योग बौद्धिक व्यायाम नहीं है। तर्क–वितर्क नहीं है। यह परम तत्त्व के बोध हेतु विचार और अभ्यास का सम्यक् समन्वय है।

8. साम्प्रदायिक नहीं, असांप्रदयिक है– योग किसी व्यक्ति, वर्ग या वंश विशेष की वस्तु नहीं है। यह मानव मात्र के उत्थान का आत्मिक प्रयास है। हजारों वर्षों के अभ्यास व अनुभव से अनुप्राणित है।

9. रहस्यवाद नहीं, परीक्षित पद्धति है – योग कोई जटिल, अकल्पनीय या रहस्यपूर्ण प्रक्रिया नहीं है। सरल, स्पष्ट व परीक्षित पद्धति है। यह सोई शक्तियों को जगाने का विज्ञान है। इसे योग्य मार्ग दर्शक के निर्देशन में कोई भी व्यक्ति सीखकर अभ्यास कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इससे स्पष्ट होता है कि योग का संबंध हमारे आंतरिक स्तर से है, आंतरिक पवित्रता से है जिसकी परिणति सदैव सत्कर्म के रूप में होती है, समाधि के रूप में होती है, परम तत्त्व की प्राप्ति के रूप में होती है। **योग को अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय माना गया है।** अध्यात्म का अर्थ है अधि + आत्म अर्थात् आत्मा के पास रहना। विज्ञान का अर्थ है वि + ज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान। **ज्ञान का जीवन में उतरना ही विज्ञान है।** अध्यात्म जहां एक ओर **आदर्शवाद** है, सिद्धांत है तो विज्ञान वहीं दूसरी ओर **तकनीक** है, प्रयोग है। सिद्धांत को हस्तगत करने के लिए प्रयोग की आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, प्रयोगों का अभ्यास करना भी होता है। तभी परिणम प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए स्वास्थ्य लाभ हेतु, चित्त समाधि हेतु योग के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के प्रयोगों का अभ्यास करने से ही सफलता मिलती है। अतः अध्यात्म और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। इन्हें पृथक नहीं किया जा सकता है क्योंकि इनका अपृथकीकरण ही योग है।

1.2 योग : व्युत्पत्ति एवं अर्थ

पाणिनीय गण पाठ के अनुसार, दिवादि गणीय 'युज्' धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर व्युत्पन्न योग शब्द का अर्थ समाधि होता है। रूधादि गणीय 'युज्' धातु में घञ् प्रत्यय लगने से निर्मित योग शब्द का अर्थ संयमन होता है। इस प्रकार गण भेद से योग शब्द के प्रमुख अर्थ समाधि, संयोग तथा संयमन होते हैं।

इसके अतिरिक्त युजिर् योगे इस धातु में कर्ता के अर्थ में घञ् प्रत्यय लगने से निष्पन्न योग शब्द का अर्थ 'संयोग' होता है तथा उसी धातु में करण के अर्थ में घञ् प्रत्यय लगने से व्युत्पन्न योग शब्द का अर्थ 'संयोग करण' होता है। आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार भी युज् धातु दो अर्थों में प्रयुक्त है जिनमें एक का अर्थ है जोड़ना या संयोजित करना है तथा दूसरे का समाधि है। योग शब्द का सम्बन्ध 'युज' शब्द से भी है जिसका अर्थ जोड़ना होता है और अनेक स्थलों पर इसी अर्थ में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त है। इस प्रकार व्याकरण के अनुसार 'योग' शब्द साध्य और साधन दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। अतः योग शब्द के अर्थ– संयोजन, मिलन, संयमन, कार्य प्रवणता, संयोग तथा समाधि होते हैं।

1.3 योग की परिभाषाएं

विभिन्न भारतीय परम्पराओं में हमें योग की परिभाषाएं मिलती हैं जो निम्न हैं–

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (पांजलयोग दर्शन) अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्त वृत्तियों को बाह्य समस्त विषयों से निरुद्ध कर अपने मूल स्वरूप में शाश्वत रूप से असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में अवस्थित होना योग है।
2. पुं प्रकृत्योर्वियोगेऽपि योगइत्यभिधीयते। (सांख्य दर्शनम्)
   पुरुष एवं प्रकृति के पार्थक्य को स्थापित कर पुरुष का स्वरूप में अवस्थित होना ही योग है।
3. योगः संयोग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनो। (विष्णुपुराणम्)
   जीवात्मा तथा परमात्मा का पूर्णतया मिलन ही योग है।
4. सिद्धयसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते। (भगवद् गीता 2/48)
   दुःख–सुख, लाभ–अलाभ, शत्रु–मित्र, शीत और उष्ण आदि द्वन्द्वों में सर्वत्र समभाव रखना योग है।
5. तस्माद्योगाययुज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। (भगवद् गीता 2/50)
   कर्त्तव्य कर्म बन्धक न हो इसलिए निष्काम भावना से अनुप्रेरित होकर कर्त्तव्य करने का कौशल योग है।
6. तं विद्यात् दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम्।। (नगवद्गीता 6/23)
   समस्त दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति तथा उसके साधनों को भी योग कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7. मोक्खेण जोयणाओ सव्वो वि ववहारो जोगो। (योग विंशिका)

   आचार्य हरिभद्र के अनुसार मोक्ष से जोड़ने वाले सभी व्यवहार योग हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपाय रूप को ज्ञान श्रद्धान और चरित्रात्मक कहा है।

8. कुशल चित्तैकग्गता योग।

   बौद्धों के अनुसार कुशल चित्त की एकाग्रता योग है।

9. डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार योग का अर्थ है– अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को एक जगह इकट्ठा करना, उन्हें संतुलित करना और बढ़ाना। (भगवद्गीता, राधाकृष्णन्, पृ. 55)।

10. प्रो रामहर्षसिंह के अनुसार योग का अर्थ मनुष्य के व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक पक्षों का एकीकरण है साथ ही मनुष्य का उसके द्वारा समन्वय योग है।

1.4 योग के प्रकार

योग परम तत्त्व की प्राप्ति है। उसके लिये अनेक साधनों का उपयोग किया जाता है। उन साधनों को भी योग कहा जाता है। उनका कोई सर्वसम्मत एक वर्गीकरण प्राप्त नहीं होता है। वे सभी साधन एक–दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। परम्परागत सभी योग पद्धतियों में अनेक योग विधियों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उपयोग किया जाता है। व्यक्ति, समय व क्षेत्र की आवश्यकता अनुसार कभी किसी एक विधा पर बल देना भी पड़ता है। यूं तो योग के अनेक प्रकार हैं पर कुछ प्रकारों को निम्न रूप में समझा जा सकता है –

1. ज्ञान योग– ज्ञान के द्वारा परम तत्त्व का सुयोग या प्राप्ति।
2. भक्ति योग– भक्ति द्वारा परम तत्त्व का सुयोग या प्राप्ति।
3. कर्म योग– निष्काम कर्म व सेवा द्वारा परम तत्त्व का सुयोग या प्राप्ति।
4. मंत्र योग– मंत्र की ध्वनियों द्वारा परम तत्त्व का सुयोग या प्राप्ति।

1. ज्ञान योग

यह आध्यात्मिक ज्ञान व प्रज्ञा का मार्ग है। प्रबुद्ध जन अविद्या, मिथ्यात्व व अज्ञान के अन्धकार को भेदकर 'स्व' विशुद्ध चेतना या परम तत्त्व का बोध करते हैं। ज्ञान योग की साधना स्वाध्याय और ध्यान के मार्ग द्वारा सम्पन्न होती है। कहा भी गया है कि "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" तत्व ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है। तत्व ज्ञान की प्राप्ति मानसिक व भावनात्मक विकास तथा उसकी शुद्धि से प्राप्त होती है। श्रवग, मनन और निदिध्यासन इसके प्रमुख साधन हैं। प्रायः ज्ञान योग को वे ही लोग अपनाते हैं जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है। ज्ञान योग में अज्ञान को सभी दुःखों का कारण माना जाता है। दुःख के कारण पर मनन करना, परम सच्चाई को प्राप्त करना, परमार्थिक तत्त्व का ज्ञान होना ही सच्चा ज्ञान है। ज्ञानयोग स्वानुभूति या स्वयं का ज्ञान है।

सीमाएं–ज्ञान योग की भी अपनी सीमाएं हैं– (1) ज्ञान योग में व्यक्ति हर वक्त ज्ञान में ही डूबे रहते हैं जिससे वे समाज से कट जाते हैं। (2) जन साधारण या आम आदमी में इतना बौद्धिक स्तर नहीं होता कि सभी इसकी साधना कर सके। (3) भावनात्मक शुद्धि के बिना मात्र बौद्धिक अभ्यास, वाद–विवाद, तर्क–वितर्क और आग्रह–विग्रह को जन्म देते हैं। (4) अति बौद्धिक क्रियाशीलता पाचन तंत्र पर विपरीत असर डालता है एवं शारीरिक दुर्बलता को बढ़ाता है। ज्ञान योग की सीमाओं को विस्तृत करने के लिए इसके साथ सत्य के प्रति समर्पण व अनेकान्त की साधना उपयोगी होती है। आम आदमी के लिए समर्पण भक्ति योग का रूप बन जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए कर्मयोग (श्रम) या हठयोग का समन्वय आवश्यक होता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. भक्ति योग

यह योग भक्ति, श्रद्धा व समर्पण पर आधारित होता है। इसमें परम तत्त्व के साथ एकाकार होने का लक्ष्य व भावना प्रबल होती है। एक भक्त अपने किसी एक इष्ट या गुरु पर अपने आप को समर्पित कर उसी की अर्चना या पूजा करता है। भक्ति से सराबोर होकर एकात्मकता की अनुभूति करता है। अर्थात् सर्वस्व परमात्मा पर ही न्यौछावर कर देना ही भक्ति मार्ग का द्वार है। अधिकांश भारतीय एवं सामान्यजन इसी मार्ग का अनुकरण करते देखे जाते हैं। यह भावना प्रधान साधना है। भक्ति योग में यह माना जाता है भक्त जो कुछ करता है उसके द्वारा नहीं अपितु ईश्वर द्वारा ही किया जाता है।

इसकी सीमा यह है कि अनेक बार भक्ति का वास्तविक प्रयोजन व अर्थ न समझकर भक्त अपने दैनिक जीवन के कार्य के लिए भी भगवान् के सामने हाथ पसारकर अपने पुरुषार्थ को गौण करता है। विश्वास तर्क की उपेक्षा कर अंधविश्वास में परिणत होने लगता है। श्रम, सादगी व संयम की बात गौण होने से अकर्मण्यता, बेरोजगारी व पुरुषार्थहीनता की संभावना बढ़ती है। यह किसी भी समाज के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं होता। भक्तियोग को ज्ञान योग व कर्मयोग की समन्वित साधना द्वारा संतुलित किया जाता है।

3. कर्म योग

आज जिस अर्थ में कर्म योग प्रचलित है वह निष्काम कर्म व सेवा का मार्ग है। साधक निष्पृह होकर स्व या स्व के साथ सर्व आत्म कल्याण के लिये कार्य करता है। इस युग में महात्मा गांधी, आचार्य श्री तुलसी, विनोबा भावे इसके अप्रतिम उदाहरण हैं यह पुरुषार्थ, स्वतंत्रता व स्वावलम्बन का मार्ग है। गीता के अनुसार कर्म फल पर व्यक्ति को अपना अधिकार नहीं करना चाहिए। प्रतिफल पर स्वयं के अधिकार की इच्छा किये बिना कर्म के लिये तत्पर रहना ही निष्काम कर्म है। यही कर्म योग है। यह भक्ति योग के विपरीत योग है। इसको भी अपनी सीमाएं हैं। इसमें व्यक्ति कर्म करता है तो उसमें अहंकार की भावना उत्पन्न होने की संभावना है। इसमें व्यक्ति का पुरुषार्थ प्रबल है पर अहंकार की समस्या जुड़ी है। इससे निपटने के लिये अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिए। यह योग हर कोई नहीं कर सकता क्योंकि फल नहीं मिलेगा तो व्यक्ति में निराशा आयेगी। इसकी एक सीमा यह भी है कि इसमें सामान्य साधक उसके प्रतिफल यथा–पद, नाम, यश, कीर्ति, सिद्धि आदि की कामना करने लगता है। यह वृत्ति आपसी टकराव का कारण बनती है। समाज व संस्थाओं की स्वस्थ कार्य प्रणाली के लिये घातक होती है। निष्काम भाव, कर्त्तव्य भाव, ऋण मुक्ति भाव, दायित्व भाव, सेवा भाव आदि उदात्त भावनाओं का कर्म के साथ जुड़ने से कर्म योग की सीमाएं विस्तृत बनती हैं।

4. मंत्र योग

मंत्र की साधना चेतना को परिष्कृत करती है। इसमें किसी बीजाक्षर, मंत्र या वाक्य का बार–बार पुनरावर्तन किया जाता है। विधिवत् लयबद्ध पुनरावर्तन को जाप कहते हैं। इसमें ध्वनि के उच्चारण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। चित्त की सूक्ष्मतम तरंगें ध्वनि की तरंगें हैं। मंत्र की साधना से पहले अन्दर की सफाई होती है। अन्त में व्यक्ति उसी में एकाग्र हो जाता है। उसका मन स्थिर होने लगता है। वैदिक साधना पद्धति में, बौद्धों में मणि पद्मेऽहं, जैनों में नमस्कार महामंत्र, अर्हम् आदि ध्वनियों के उदाहरण हैं। उन ध्वनियों का उपयोग करना चाहिए जिनसे मन परमात्मा में लयलीन हो जाये। एक ही ध्वनि को लम्बे समय तक उपयोग की सलाह दी जाती है–

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।

पातंजल योग सूत्र के अनुसार ईश्वर का वाचक प्रणव है। ओंकार है। इसका जप करते हुये अन्त में इसके अर्थ अर्थात् परमात्म रूप हो जाना मंत्र का प्रमुख उद्देश्य है। मंत्र के जप के साथ उसके अर्थ, छन्द, ऋषि या देवता का अधिकाधिक रूप में मनन किया जाता है। तब वह शीघ्र सिद्ध होता है। मंत्र सिद्धि के द्वारा मन, मंत्र तथा आराध्य देव की पृथक्ता का बोध साधक को नहीं होता है। तीनों एक दूसरे में लीन हो जाते हैं। ध्याता, ध्यान और ध्येय रूपी त्रिपुटी का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लय हो जाता है। इसके फलस्वरूप साधक सिद्धि प्राप्त करता है। इसकी सीमा यह है कि इसका उपयोग अधिकांशतः शक्ति की साधना में अधिक किया जाता है। चित्त की निर्मलता के अभाव में शक्ति की उपसना अहंकार, दुरुपयोग, लोकैषणा व लौकिक कामनाओं का साधन बन जाता है। साधक के साधना–पथ से भ्रमित होने की संभावना रहती है। मंत्र योग में इस स्थिति से बचाव के लिये योग्य गुरु के अनुशासन में रहने व गोपनीयता के साथ साधना के बचाव करने का विधान प्राप्त होता है।

1.5 योग के स्रोत

योग के आदि स्रोत को जानने के लिए दो साधन हैं– प्राचीन पुरातत्त्व के अवशेष और साहित्य। सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्राप्त पुरातत्त्व के अवशेषों से उस काल के भारत में योग विद्या के प्रचलन की पुष्टि होती है। उसी प्रकार प्राचीन सूत्र–साहित्य एवं लोकप्रिय उपदेशात्मक पौराणिक साहित्य –दोनों प्रकार के साहित्य में योग के स्वरूप, उसके विस्तार व गहराई का पता चलता है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रागैतिहासिक युग के अवशेष बहुत कम मिले थे पर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खोज से 5000 वर्ष पुरानी, अत्यन्त उन्नत, समृद्ध एवं सम्पन्न नागरिक सभ्यता का ज्ञान हुआ। सिन्धु नदी की घाटी में फलने–फूलने से इसे सिन्धु घाटी की सभ्यता का भी नाम दिया गया। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कुछ वस्तुएं ऐसी मिली हैं जिनके आधार पर हम सिन्धु सभ्यता के लोगों में योग के विषय में बहुत उपयोगी बातें जान सकते हैं। ये वस्तुएं मुद्राएं (मोहरें) और धातु, पत्थर व मिट्टी की बनी हुई मूर्त्तियां हैं। पत्थर की बनी हुई मूर्तियों में सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है जो कमर के नीचे टूटी हुई है। इस मूर्ति में मनुष्य को एक चोगा पहने हुए दिखाया गया है। मूर्ति में आंखें मुंदी हुई व ध्यान मग्न दिखाई गई हैं। योग संबंधी अनेक बातें प्रचुर संख्या में उपलब्ध मुद्राओं से भी ज्ञात होती है। जोनमार्शल के अनुसार वे प्राचीन योगियों की मुद्राएं हैं। उन पर अंकित आकृतियों के बारे में भिन्न–भिन्न मत प्राप्त होते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार वह पशुपति शिव की आकृति है एवं कुछ के अनुसार वह जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभ हैं।

मुहर पर तीन मुंह वाला एक नग्न व्यक्ति चौकी पर पद्मासन लगाकर बैठा हुआ है। इसके चारों ओर हाथी तथा बैल हैं। चौकी के नीचे हिरण है। इसके सिर पर सींग और विचित्र शिरोभूषा है। इसने हाथों में चूड़ियां और गले में हार पहन रखा है। यह मूर्त्ति शिव के पशुपति रूप की समझी जाती है। पद्मासन में ध्यानावस्थित मुद्रा में इसकी नासाग्रदृष्टि शिव के योगीश्वर या महायोगी रूप को सूचित करती है। तीन अन्य मुहरें पशुपति के इस रूप पर प्रकाश डालती हैं। यदि इन मुद्राओं में अंकित प्रतिमा को शिव मान लिया जाए तो यह स्वीकार करना होगा कि शैवधर्म या तंत्र योग संसार का प्राचीनतम धर्म या योग है। एक मुद्रा पर अंकित चित्र में त्रिशूल, मुकुट– विन्यास, नग्नता, कायोत्सर्ग मुद्रा, नासाग्र दृष्टि एवं ध्यान में लीन मूर्तियों से ऐसा सिद्ध होता है कि ये मूर्तियां किसी मुनि या योगी की हैं जो ध्यान में लीन है। राम प्रसाद चांदा का कथन है–सिन्धुघाटी की अनेक मुद्राओं में बैठी हुई देवमूर्तियां योगमुद्रा में हैं और उस सुदूर अतीत में सिन्धु घाटी में योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती है बल्कि खड्गासन देवमूर्त्तियां भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं और वह कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा विशिष्ट तथा जैन है। अनेक विद्वान् सिन्धु घाटी की सभ्यता को द्रविड और विद्याधर जाति से संबंधित मानते हैं, यह वृषभ को पूज्य मानती थी । वृषभ भगवान ऋषभदेव हिरण्यगर्भ तीर्थंकर का चिह्न था । लोहानीपुर एवं हडप्पा से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित मूर्ति को रामचन्द्रन तथा डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल जैसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जैन तीर्थंकर मूर्ति माना है। प्रो. दामोदर शास्त्री के अनुसार इस सभ्यता के निर्माता लोग जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के आराधक वीतराग धर्म के अनुयायी तथा यौगिक ध्यानादि क्रियाओं के उपासक थे।

इस प्रकार पुरातत्व के अवशेषों से प्राप्त पुरानी मूर्तियों एवं मुद्राओं पर अंकित आकृतियों आदि से योग की प्राचीनता के बारे में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.6 योग के आदि प्रणेता

प्राचीन साहित्य से योग के आदि प्रणेता का ज्ञान होता है। विभिन्न कालों में उद्भूत योग परम्पराओं और उससे सम्बन्धित प्राचीन सूत्र साहित्य एवं लोकप्रिय साहित्य पुराण आदि में योग के आदि प्रणेता के बारे में उल्लेख मिलता है। सूत्र साहित्य वह साहित्य है जिसमें विस्तृत विचारों को अत्यन्त संक्षेप में, व्यवस्थित, तर्कसंगत व सूत्र शैली में लिखा गया है। इसका उपयोग विशेषकर विद्वान लोग ही कर पाते हैं। दूसरे प्रकार का साहित्य वह है जिसमें मूल विचारों को विस्तार से, रोचक एवं सरल ढंग से कथानक या उपदेशात्मक शैली में लिखा गया है। वस्तुतः योग के आदि प्रणेता की जानकारी दूसरे प्रकार के साहित्य से ही प्राप्त होती है। महाभारत, रामायण और पुराण का समावेश उपरोक्त साहित्य में किया जाता है। विद्वानों का मानना है कि इस समय उपलब्ध ग्रंथों में महर्षि पतंजलि का योगसूत्र ही एक ऐसा प्रामाणिक ग्रंथ है जिसमें शुद्ध विचार से योग विद्या का वर्णन मिलता है। योग सूत्र के प्रायः सभी भाष्यकारों तथा वृत्तिकारों का यह मत है कि पातंजल योग शास्त्र हिरण्यगर्भ शास्त्र के आधार पर रचा गया है।

महाभारत तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में एक कथन मिलता है कि–"हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता, नान्यः पुरातनः।" (महाभारत 0/2/349–65) अर्थात् हिरण्यगर्भ ही योग के वक्ता हैं। इससे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है। हिरण्यगर्भ के बारे में महाभारत में ही एक श्लोक और मिलता है कि–

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।

योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः।। (महाभारत 12/342/96)

अर्थात् यह द्युतिमान हिरण्यगर्भ वही है जिनकी वेद में स्तुति की गई है। इनकी योगी लोग नित्यपूजा करते हैं और संसार में इन्हें विभु कहते हैं। पुराण साहित्य में प्राचीन घटनाओं, व्यक्तियों तथा ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन मिलता है। वहां प्राचीन परम्पराएं लिपिबद्ध हुई है। श्री देवीभागवत पुराण में (उत्तरार्द्ध, स्कन्ध–एकादश अध्याय) भगवान ऋषभदेव को ही हिरण्यगर्भ योगेश्वर, योगनिपुण आदि रूप में स्तुति की गई है। श्रीमद् भागवत (5/4/9) में कहा गया है कि–"भगवान ऋषभो योगेश्वरः" तथा इसी में (5/5/25) में कहा गया है कि "नाना योगचर्यो चरणों भगवान् कैवल्यपतिः ऋषभः।" भगवान ऋषभ नाथ की मान्यता प्राचीनतम काल से आज तक चली आ रही है। इन्हें हठयोग का उपदेष्टा भी कहा गया है– श्री आदिनाथ नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टाहठयोग विद्या।"

जैन आदि पुराण (सर्ग 24) में चक्रवर्ती सम्राट भरत द्वारा भगवान आदिनाथ जी को इस प्रकार वर्णित किया गया है–

हिरण्यगर्भो भगवान् वृषभो वृषभध्वजः।

परमेष्ठी परम तत्वं परमात्ममूरसि ।।33।।

हे प्रभो! आप हिरण्यगर्भ हैं, भगवान हैं, वृषभ (श्रेष्ठ) हैं– वृषभ नामधारी हैं; वृषभचिन्ह से शोभित हैं परमेष्ठी हैं परम तत्त्व हैं और अपने आत्मस्वरूप को स्वयं प्रकट करने वाले स्वयंभू हैं।

तंत्र साहित्य के अनुसार तंत्र शास्त्र के आदि प्रणेता शिव हैं। शिवपुराण में ऋषभदेव को शिव का अवतार तथा आदि शिव स्वीकार किया गया है। (शिवपुराण– 4/47–48) इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों में योग के आदि प्रणेता के रूप में हिरण्यगर्भ, ऋषभ, आदिनाथ और शिव को माना गया है। आज मान लिया गया कि आदिनाथ, ऋषभ और शिव ये कोई दो नहीं हैं। आदिनाथ ऋषभ योग के प्रवर्त्तक हैं, हिरण्यगर्भ हैं जिन्होंने योग का प्रवर्तन किया, ध्यान मार्ग का प्रवर्तन किया। ऋग्वेद और अथर्ववेद में ऋषभ के बारे में संकेत मिलते हैं। जैनागमों तथा हिन्दू पुराणों में परम्परागत वृत्तान्त मिलते हैं और भी बाद में संकलित श्रीमद् भागवत आदि पुराण तथा महापुराण में विस्तृत और काव्यमय विवरण प्राप्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.7 वेदों में योग

भारतीय परंपरा ऋषि प्रधान रही है। प्राचीन काल से महान ऋषियों ने अपने ज्ञान बल से अज्ञान को दूर करने का अथक एवं भरसक प्रयास किया है ताकि मानव प्राणी अज्ञानता रूपी अंधकार से हटकर ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त सके जिससे वह अपने जीवन को सार्थक बना सके। इसीलिए परन ज्ञानी ऋषि एक परम सत्ता को मानकर, उसे जानकर उसे प्राप्त करने का, उसकी आज्ञा का पालन करने का, सद्मार्ग पर चलने का, शांति एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण का, अंततः मोक्ष प्राप्ति का आह्वान् करते हैं, संदेश देते हैं, प्रकाशित करते हैं। इसी का परिणाम है कि चिरकाल के बाद भी वह अमर वाणी, अमर ज्ञान विभिन्न ग्रंथों के माध्यम से मानव के लिए अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते रहे हैं। इन्हीं में एक हैं वेद जो अपनी अगाध ज्ञानराशि से इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के जीवन को सुख, शांति, समृद्धि एवं मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते रहे हैं।

वेद शब्द की व्युत्पत्ति विद् ज्ञाने धातु से मानी गई है। वेद का अर्थ है ज्ञान। वेदों को सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ होने का श्रेय प्राप्त है। साथ ही इन्हें अपौरुषेय भी माना गया है। अर्थात् वेद साक्षात् ब्रह्म की वाणी है जो ऋषियों के द्वारा व्यक्त है। जिसने परम ब्रह्म का साक्षात्कार किया वही उसकी वाणी को व्यक्त कर सकता है। अतः ऋषि ही वेदों की अव्यिक्ति के माध्यम रहे हैं, अधिकारी रहे हैं। वेदों की संख्या चार है–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेद को सभी ज्ञानों का मूल माना गया है। अतः ज्ञान–विज्ञान, शस्त्र–शास्त्र, साहित्य–कला, शिल्प–उद्योग, सभ्यता–संस्कृति, लौकिक–पारलौकिक सभी प्रकार के ज्ञान की चर्चा वेद करते हैं। इसीलिए मनीषियों ने वेद को कालातीत अक्षय ज्ञान का भंडार कहा है। वेद के प्रतिपादित विषय मानव मात्र को जीवन पर्यंत उचित आचार–विचार और व्यवहार की शिक्षा देते हैं। चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवनशैली को व्यस्थित बनाते हैं। मोक्ष वेदों का अंतिम लक्ष्य है। इसीलिए उपासना, धर्म का अनुष्ठान, विद्या प्राप्ति, ब्रह्मचर्य पालन, सत्संग, योगाभ्यास आदि साधनों का प्रतिपादन भी किया है। कहने का तात्पर्य है कि लौकिक जीवन से लेकर पारलौकिक जीवन तक की यात्रा के महत्त्वपूर्ण सूत्र वेदों में सन्निहित हैं जिनके द्वारा मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में क्रमशः अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ अंततः सर्व बंधनों से मुक्त हो सके।

चूंकि वैदिक साधना का मुख ध्येय है आत्मा और परमात्मा का मिलन, उनका एक्य। इसलिए वेदों में भोग (लौकिक ज्ञान) के साथ अपवर्ग (अलौकिक ज्ञान) की भी चर्चा की गई है। अतः अपवर्ग को प्राप्त करने के लिए, आध्यात्मिक सुख, पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए वेदों में योग संबंधी अनेक विचार यत्र–तत्र हैं। इसमें देवताओं को आह्वान करके आंतरिक शुद्धि, परमात्मा की प्राप्ति की कामना की गई है। एक साधक की अभीप्सा को वेदों में विभिन्न रूपों व्यक्त किया गया है। **ऋग्वेद** में कहा गया है कि हे! अग्निदेव यदि मै तू हो जाऊं और या तू मै हो जाऊं तो इस लोक में तेरे सारे आशीर्वाद सिद्ध हो जाएं। कहने का तात्पर्य है कि जब जीवात्मा परमात्मा जैसी हो जाए या परमात्मा जीवात्मा जैसी बन जाती है तो तेरा और मेरा, आत्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है। भेद के कारण ही सारे दुःख, झंझावात, कष्ट आदि समस्यांए होती हैं। जब भेद ही मिट जाता है तो उससे उत्पन्न हुई समस्त समस्याएं स्वतः समाहित हो जाती हैं। अतः योग की अंतिम परिणति एक्यता की प्राप्ति है। योग की विधि को बताते हुए या योग हेतु आलंबन कहा गया है कि जिन देवताओं के बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानी का जीवन यज्ञ सफल नहीं होता, उसी में ज्ञानियों को अपनी बुद्धि एवं कर्मों का योग करना चाहिए। अर्थात् जीवन की उच्चतम सफलता के लिए अपनी बुद्धि और कर्मों को समायोजन तत्संबंधी देवताओं पर केन्द्रित करना या उनका ध्यान करना चाहिए। योग मार्ग पर चलने वाला साधक अंधकार को नहीं प्रकाश को चाहता है, अज्ञानको नहीं ज्ञान को चाहता है। साधक कामना करता है कि हे मरुत देवों! तुम हृदय गुहा में स्थित अंधकार को छिन्न–भिन्न कर दो। हमारी अभीष्ट जंति को प्रकट कर दो। जब अंधकार छिन्न–भिन्न हो जाएगा तो प्रकाश स्वतः आलोकित होगा क्योंकि प्रकाश को ढकने वाला अंधकार ही होता है। अतः साधक उसी को दूर करने और अभीष्ट प्राप्ति की कामना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इंद्रिय संयम होने पर ही उसका सत्य के उद्घाटन सरलता से हो सकता है। **यजुर्वेद** में कहा गया है कि परमात्मा हमारे मन और बुद्धि की वृत्तियों को तत्त्व की प्राप्ति के लिए अपने दिव्य स्वरूप में लगाएं। हमारी इंद्रियों का प्रकाश बाहर न जाकर हमारी बुद्धि और मन की स्थिरता में सहायक हो। मेरे मन को सब प्रकार के द्वेष भावों को पृथक कर दो। साधक की यह कामना अंततः सब विकारों से हटाकर स्वयं के दिव्य स्वरूप की प्राप्ति की है। जब तक क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों का जमघट अंतःकरण में रहेगा तब तक दिव्यता की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती है लेकिन इनके मिटते ही इंद्रिय संयम स्वयं होने लगेगा। तत्पश्चात् उसका सही दिशा में नियोजन करके दिव्यता को प्राप्त करना सरल कार्य हो जाता है। साधक की यह भी कामना है कि हे वरुण! तुम सब बंधनों और संतापों से मुक्त करने वाले हो। हमारे उत्तम अंगों में स्थापित पाश से हमें पृथक् करो। तत्पश्चात् हम अपराधों से मुक्त होकर तुम्हारे कर्म में लगें। पाश अर्थात् बंधन ही मानव को गलत मार्ग की ओर ले जाते हैं। इन्हीं के रहते मानव प्राणी अनेक तरह के अपराध करता है। अतः इन पाशों से मुक्ति की कामना की गई है। साधक कहता है कि मेरा मुख श्री संपन्न हो, मुख यशस्वी हो.....मेरी जिह्वा कल्याणमयी हो, मेरी वाणी महिमामयी हो, मन में क्रोध न होते हुए भी आवश्यकता पड़ने पर क्रोधांश को प्राप्त हो...मेरा मांस सब प्राणियों का नमन करने वाला आदि। जो अपराध हमसे हो गया है, उससे हमें मुक्त करें। ग्राम में, जंगल में, वृक्ष काटने व पशुओं को मारने में, असत्य भाषण से, इंद्रियों के हुए पाप जाति विशेष के साथ हुए पापों से हमें मुक्त करें। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानों से सुनें, कल्याणकारी दृश्य की आंखों से देखें, शरीर से वही कर्म करें जो विद्वानों के हित में हों। इसमें साधक अपनी इंद्रियों के उचित उपयोग की कामना करता है।

आत्मा को यहां विशेष स्थान प्राप्त है। **सामवेद** में आत्मा, चेतना या ब्रह्म की विशेषताओं को प्रकट करते हुए अंततः सद्कामना करते हुए कहा है कि जो भूत भविष्य और सब में व्यापक है, जो दिव्य लोक का भी अधिष्ठाता है, उन ब्रह्म को मेरा प्रणाम है। यह आत्मा प्रमुख होते हुए भी दिखाई नहीं देता क्योंकि वह बाल से भी सूक्ष्म है। हे! आत्मा तू ही कुमारी, तू ही स्त्री और तू ही पुरुष है। तू जीर्ण होकर प्राण से वियुक्त करता और प्रकट होकर विश्तोमुख होता है। तू ही इन जीवों का पिता, पुत्र, ज्येष्ठ और कनिष्ठ है। कामना से रहित धैर्यवान स्वयंभू बह्म अपने ही रस से स्वयं तृप्त रहते हैं वह किसी भी विषय में असमर्थ नहीं हैं। उस सतत् युवा आत्मा ज्ञाता को मृत्यु भय नहीं लगता। हे! प्रभु आप हमारे मन को कल्याण के लिए प्रेरित करें। अतः साधक कल्याण की कामना करता है।

मानव शरीर मात्र हाड़–मांस का पुतला भर नहीं है वरन् दिव्यता को भी लिए हुए है। इसी को वेद स्पष्ट करता है। **अथर्ववेद** में कहा गया है कि आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली हमारी देह एक अपराजेय देवनगरी है। इसमें एक तेजस्वी कोश है जो ज्योति और आनंद से परिपूर्ण है। अतः सिद्ध होता है कि परम आनंद का कोश हमारे भीतर ही है, भले ही हम उसे आत्मा मानें या चेतना मानें या अन्य रूपों में मानें। इसलिए परम आनंद की प्राप्ति बाहर नहीं वरन् भीतर ही है। जब सबके भीतर एक ही तत्त्व है तो फिर कोई किसी को न ताप दे सकता है और न संताप दे सकता है। इसीलिए वेद यह भी कहता है कि मनुष्य को पशुओं के प्रति मन, वचन और कर्म से हिंसा नहीं करनी चाहिए, उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। भाई–बहन अथवा परिवार में कोई एक दूसरे से द्वेष न रखे। सभी एकमत और एक व्रती होकर आपस में शांति से, मधुरता से, भद्रता से वार्तालाप करें। इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि मेरी जीभ से मधुर शब्द निकलें, भजन कीर्तन करते समय मूल में मधुरता हो, मधुरता मेरे कर्म कर्म में निश्चय रहे, मेरे चित्त में मधुरता बनी रहे। यह मधुरता तभी रह सकती है जब वास्तव में अंतःकरण शुद्ध होता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि वेदों में योग संबंधी विचारधारा विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होती है। योग का साधक अपने अंतःकरण की शुद्धि हेतु कामना करता है ताकि वह परम तत्त्व को प्राप्त कर सके। ऐसी विचार धारा, ऐसा आचरण और ऐसा व्यवहार की वास्तव में योग मार्ग के लिए अनिवार्य ही नहीं अपितु अपरिहार्य भी हैं। संक्षेप कहें तो विचार, आचार और व्यवहार की शुद्धि ही योग है और उस मार्ग पर चलने वाला साधक योगी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.8 उपनिषदों में योग

मानव प्राणी का जीवन जड़ और चेतन का सम्मिश्रण है। चेतन तत्त्व जड़ के साथ आबद्ध होने से स्वयं को भूल जाता है और जड़ के स्वरूप में समाहित हो जाता है। तब मानव चेतना इंद्रिय और मन के वशीभूत होकर बाहरी जगत में परिचय प्राप्त करने का प्रयास करती है। वह चेतना का बहिर्मुखी रूप है। है। जीवन भर सुख भोग की तलाश में वह चेतना क्रियाशील रहती है पर कभी तृप्त नहीं हो पाती है। क्षणिक सुख भले ही मिल जाय पर स्थाई सुख उसे दुर्लभ होता है। जैसे–जैसे वह इस मार्ग की ओर आगे बढ़ती है, उसे आभास होता है कि सुख इस मार्ग में नहीं है। तब उसे स्वंतत्रता की आवश्यकता अनुभव होती है। यह स्वत्रंता की चाह ही उसे अंतर्मुखी बनाने में सहायक होती है। इसी सद्विचार से वह चेतना शुद्ध रूप में रूपांतरित होती रहती है। अंततः जब वह सम्यक् रूप से जागृत और प्रबुद्ध हो जाती है तो वह इंद्रिय, मन की अधीनता से स्वयं को मुक्त कराना चाहती है और तत्संबंधी पुरुषार्थ भी करने लगती है। इस मार्ग में जब उसे अपने वास्तविक स्परूप की अनुभूति होती है तो सारे भेद, सारे व्यवधान, सारी समस्याएं, सारी अपूर्णता मिट जाती है। तब वह अखंड विश्व के साथ एकाकार होकर पूर्ण और आनंदमयी बन जाती है। उपनिषदों का निचोड़ भी यही है कि मानव चेतना अपने शुद्ध स्वरूप को, अपने ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त करे।

उपनिषदों को वेदांत भी कहा जाता है अर्थात् वेद का अंत भाग। उपनिषद् का अर्थ है **उप समीपं निषीदति प्राप्नोति –इति उपनिषद्** अर्थात् जिसके द्वारा परम समीपभूत ब्रह्म का साक्षात्कार हो अथवा आत्म तत्व के निकट पहुंचाने वाली विद्या। उपनिषद के ऋषि जब स्वयं को देखते हैं तब अनुभव करते हैं कि **अहम् ब्रह्मास्मि** अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूं। जब वही ऋषि दूसरे मनुष्यों को देखते हैं तब वे उनमें भी ब्रह्म के दर्शन करते हैं और कहते हैं–**तत्वमसि–तत् त्वम् असि** अर्थात् वह (ईश्वर), तुम (जीव), असि (हो) अर्थात् तुम वही बह्म हो। कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर का अंश जीव के भीतर ही है। जब जीव कषाय मुक्त हो जाता है तब उसकी आत्मा परम सत्ता में ही लीन हो जाती है। आत्मा जब तक बंधन में रहती है तब वह जीवात्मा होती है और बंधनमुक्त होने पर परमात्मा हो जाती है। अतः जब जीवात्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है तब वह परम तत्त्व में विलीन हो जाती है। इसलिए कहा है कि वह तत्त्व या वह परम सत्ता ही हमारी आत्मा है। उपनिषदकारों ने मानव में ब्रह्म चेतना को जगाने का प्रयास किया। ऐसा होने पर मनुष्यों में परस्पर भेद मिट सकता है। जब सब ही एक ही ब्रह्म के रूप हैं तो फिर भेद रह भी नहीं सकता है। तब न तो कोई ऊंच है और न ही कोई नीच है, न जाति भेद है, न रंग भेद है या अन्य किसी भी तरह का भेद है। कहने का तात्पर्य है कि जब आत्मा के स्तर पर सभी एक ही हैं तब बाह्य भेद का मूल्य नहीं रह जाता है। एक अज्ञानी के लिए सारे भेद हैं और एक ज्ञानी के लिए सब अभेद है। यह भी सत्य है कि सत्य ज्ञान प्राप्त करना, इसे अनुभव के स्तर पर लाना प्रत्येक के लिए सरल भी नहीं होता है। हां! जिसने अभेद प्राप्त कर लिया वही वास्तव में ज्ञानी है, वही पूर्ण है।

उपनिषद् का मुख्य विषय **ब्रह्म** है अर्थात् परमात्मा है। **श्वेताश्वरोपनिषद्** में उसे अनादि और महान माना है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** में उसे विभु और सर्व अंतर्यामी, स्वयं ज्योति माना है और **कठोपनिषद्** में उसे ध्रुव अर्थात् अमर माना है। इससे स्पष्ट होता है कि वह ब्रह्म सबसे भिन्न है जो अनेक विशेषताओं को लिए हुए है। उपनिषदों का लक्ष्य है **आत्मानं विद्धि** अर्थात् आत्मा को, स्वयं को जानो, पहचानो। **ईशावास्योपनिषद्** में आत्मज्ञान को ही विद्या माना है और शेष को अविद्या। अविद्या से लौकिक सुख भले ही मिल जाएं पर अलौकिक और वास्तविक आनंद विद्या से ही मिल सकता है। ऐसा पुरुष आत्म कल्याण के साथ पर कल्याण भी कर सकता है। **कठोपनिषद्** में कहा गया है कि यह नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा न तो जन्मता है और न ही मरता है, यह स्वयं न तो किसी से हुआ है और न ही कोई इससे हुआ है। अर्थात् यह न तो किसी का कार्य है और न ही कारण। यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन अर्थात् क्षय और वृद्धि से रहित है। शरीर नाश हो जाने पर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता है। यह न तो किसी को मारता है और नही किसी के द्वारा मारा जाता है अर्थात् यह अमर है। साथ ही यह अशरीरी है। इसी कारण नित्य और अचल है। आत्मा के लिए शरीर है न कि शरीर के लिए आत्मा। शरीर आत्मा की गति का साधन है और इसका उपयोग करने वाला इससे भिन्न है। अतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उस आत्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसके अस्तित्व का दृढ़ निश्चय करना फिर तत्वभाव से उसे प्राप्त करना चाहिए। **प्रश्नोपनिषद्** में उस परमेश्वर का दूसरा रूप ऊ. माना है। इसलिए यही परब्रह्म है। प्रकट हुआ उनका विराट स्वरूप अपर ब्रह्म है। ओंकार का जप, स्मरण और चिंतन करके उसके द्वारा अपने इष्ट को चाहने वाला विज्ञान संपन्न पुरुष उसे पा लेता है। अतः उस आत्म तत्त्व को, उस ब्रह्म को जानने की कई विधियां भी हो सकती है पर ऊं के माध्यम से उसे जाना सरल प्रतीत होता है।

विभिन्न उपनिषदों में योग

उपनिषदों में योग संबंधी चर्चा बिखरी पड़ी है जिनका अंतिम लक्ष्य परम ब्रह्म का साक्षात्कार, मोक्ष की प्राप्ति है। अतः योग को विभिन्न उपनिषद् कम अधिक समानता लिए हुए अपनी–अपनी दृष्टि से व्याख्या करते हैं। सागर में से मोती चुनना सरल कार्य नहीं है फिर भी कुछ प्रमुख उपनिषदों में योग संबंधी चर्चा को संक्षेप में देने का प्रयास किया है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** में कहा है कि **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितत्वः**–आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन आर निदिध्यासन करना चाहिए। **योगतत्त्वोपनिषद्** में मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान और योग दोनों को आवश्यक माना है। कहा है कि–**योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्। योगोऽपि ज्ञानहीस्तु न क्षमो मोक्ष कर्मणि।।** योग कि बिना ज्ञान ध्रुव मोक्ष देने वाला नहीं हो सकता है उसी प्रकार ज्ञान ही योग भी मोक्ष देने में असमर्थ है। योग के चार प्रकार निर्दिष्ट किए है–मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। इसके अतिरिक्त अष्टांग योग का भी सविस्तार वर्णन है। **योगशिखोपनिषद्** में कहा गया है कि मंत्र, लय, हठ और राज योग ये यथाक्रम चार भूमिकाएं हैं। चारों मिलकर ही चतुर्विध योग है जिसे महायोग कहा है। रज और रेत के योग को राजयोग कहा है। प्राणापान को समान करना योग चतुष्टय कहा है। **अमृत बिन्दु उपनिषद्** में योग के छः अंगों क वर्णन मिलता है– प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि योग। यह उपनिषद कहता है कि विषयासक्त मन बंधन का कारण है और निर्विशय मन मुक्ति का कारण है। **क्षुरिकोषपनिद्** में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान समाधि का वर्णन है। **तेजोबिन्दु उपनिषद** में यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबंध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि का वर्णन है। यम के बारे में कहा गया है कि सब ब्रह्म है–इसी ज्ञान से इंद्रियों का संयम करना यम है। अतः इसी का अभ्यास करना चाहिए। **कठोपनिषद्** में कहा है– **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।** अर्थात् इंद्रिय की स्थिर धारणा ही योग है। इसके साधन से मुमुक्षु अप्रमत्त होता है और उसका योग इष्टोत्पादक और अनिष्ट निवारक होता है। **त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद** में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का वर्णन है। विहित कर्मों में इस बुद्धि का होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मन का ऐसे नित्य बंधन कर्म योग है और श्रेयस में चित्त का सदा बद्ध रहना ज्ञान योग है जो सब सिद्धियों का देने वाला तथा मंगलकारक है। इस उपनिषद् में अष्टांग योग का वर्णन भी है। **जाबालदर्शन उपनिषद्** में थोड़ा भिन्नता हुए अष्टांग योग का वर्णन है। अतः इन दोनों उपनिषदों में वर्णित योग के आठ अंगों का वर्णन संक्षप में किया गया है–

यम–उपनिषदों में यमों की संख्या नौ बताई गई है–अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धृति, परिमित आहार और शौच। **अहिंसा**–शरीर, मन और वाणी द्वारा किसी को किसी भी किसी प्रकार का कष्ट देना या उसके प्राणों को वियोग करना वास्तविक हिंसा है। इसके सिवा कोई दूसरी हिंसा नहीं है। अतः आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। न तो उसका शस्त्रादि से छेदन हो सकता है और न ही हाथों द्वारा ग्रहण हो सकता है। इस प्रकार की बुद्धि को श्रेष्ठ अहिंसा माना है। **सत्य**–नेत्रादि इंद्रियों ने जिसे जिस रूप में देखा, सुना, सूंघा, समझा हुआ विषय को उसी रूप में वाणी अथवा संकेत द्वारा प्रकट करना सत्य है। इसके सिवा सत्य का दूसरा प्रकार नहीं है। सब कुछ सत्य स्वरूप परम परमात्मा ही है। अतः परमात्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा सत्य नहीं है, इस प्रकार चिंतन ही श्रेष्ठ सत्य है। **अस्तेय**–दूसरे के रत्न, सुवर्ण आदि के लिए मन को न ललचाना, कभी मन में लोभ न करना अस्तेय है। इसके अतिरिक्त जगत् के समस्त व्यवहार में अनात्म बुद्धि रखकर उस अत्मा से दूर रखने का भाव भी अस्तेय कहा है। **ब्रह्मचर्य**–मन, वाणी और शरीर से कामवासना का त्याग अथवा काम क्रोधादि आदि संताप देने वाले मन को परमात्मा के चिंतन में संचरित करना सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य माना है। **दया**–सब प्राणियों को स्वयं के समान समझकर मन, वागी आरै कर्म से उनके साथ अत्मीय भाव रखना तथा उनके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कष्टों को दूर करने का प्रयास करना, उसकी चेष्टा करना या रखना दया है। **आर्जव**–आर्जव है सरलता। अतः सबको समभावपूर्वक देखना सरलता है। **धृति**–धृति का अर्थ है धैर्य। अतः सदैव आत्म तत्त्व को स्वीकारना, उससे स्वयं को भिन्न न समझना, इस भाव से विचलित नहीं होना धृति है। **परिमिति आहार**–योग मार्ग के अनुकूल आहार करना परिमित आहार है। **शौच**–शरीर के मैल को मिट्टी आदि से छुड़ाना तथा सद् भावों से मन को शुद्ध करना शौच है। इसके अतिरिक्त मैं विशुद्ध आत्मा हूं–यह विशुद्ध शौच है। इन यमों का पालन साधना के मार्ग को सुगम बना देता है। उपनिषद कहता है कि ज्ञान रूपी अमृत से तृप्त एवं कृतार्थ हुए योगी के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। इसलिए सब प्रकार के प्रयत्न करने के अहिंसादि साधनों द्वारा अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करके आत्मा को अविनाशी ब्रह्मस्वरूप समझना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि यमों आचरण में उतार कर ही वास्तविक सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।

2. नियम–उपनिषद नियमों को निर्दिष्ट करता है जिसमें तप, संपोष, अस्तिकता, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धांत श्रवण, लज्जा, मति, (वैदिक उपदशों में पूर्णतः श्रद्धा) जप और तप। **तप**–तप का अर्थ है तपाना। व्रतों के द्वारा शरीर को क्षीण करना, मोक्ष, आत्मा और बंधन आदि पर चिंतन करना तप है। **संतोष**– अपने कर्मानुसार या दैवेच्छा से जो भी मिल जाय उस पर सदा प्रसन्न रहना, उस मार्ग पर चलना सतोष है। इसके अतिरिक्त सर्वत्र आसक्ति रहित होना, ब्रह्म आदि देवताओं के लोक तक के सुखों से भी वैराग्य होना साथ ही उसमें स्वाभाविक प्रसन्नता का होना उत्तम संतोष माना है। **आस्तिकता**–वेद, स्मृतियों के अनुसार धर्म में दृढ़ विश्वास करना आस्तिकता है। **दान**– दुःख, ताप अथवा क्लेश में पड़े वेदज्ञ पुरुषों को आवश्यक वस्तु देना दान है। **ईश्वरपूजन**–रागादि से शुद्ध हृदय, असत्य आदि से अदूषित वाणी और हिंसादि से मुक्त कर्म ईश्वरपूजन है। **सिद्धांत श्रवण**–परमानंद स्वरूप आत्मा ही अपनी आत्मा है–इस सिद्धांत को बार–बार सुनना, जानना सिद्धांत श्रवण है। **लज्जा**–आत्मा के गुणों को बार–बार सुनना, वैदिक तथा लौकिक मार्ग पर बताए गए निंदित कर्मों करने में स्वाभाविक संकोच का होना ही लज्जा है। **मति**–संपूर्ण वैदिक उपदेशों में श्रद्धा का होना मति है। **जप**–वेदोक्त रीति से बार–बार मंत्रों की आवृत्ति तप है। इसके अतिरिक्त अन्य धर्मग्रंथों में मन की वृत्तियों को निरंतर लगाए रखना भी जप का ही परिचायक है। इसके अतिरिक्त धर्मग्रंथों में मन की वृत्तियों का बार–बार लगा रहना भी जप है। वाचिक जप से मानसिक जप को अधिक श्रेष्ठ माना गया है। **व्रत**–किसी पर्व विशेष पर उपवास आदि या किसी नियम का ग्रहण करना व्रत है। स्पष्ट है कि नियमों का पालन भी समाधि की प्राप्ति में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

3. आसन– नौ प्रकार के आसनों का वर्णन है–स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन, सुखासन। उपनिषद इन आसनों की विधि तथा लाभ भी निर्दिष्ट किए गए हैं। **त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्** में इन आसनों के अतिरिक्त योगासन, बद्धमद्मासन, कुक्कुटासन, उत्तानकूर्मक, धनुरासन, सिद्धासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तानासन का भी वर्णन है।

4. प्राणायाम–प्रणवमय प्राणायाम के लिए अकार में पूरक, उकार में कुंभक तथा मकार में रेचन का प्रावधान बताया गया है। प्राणायाम की विधि को बताते हुए कहा गया है कि इड़ा नाड़ी से प्राणवायु को धीरे–धीरे खींचकर उदर में भरकर वहां सोलह मात्रा विशिष्ट अकार का चिंतन करना चाहिए। तत्पश्चात् उदर में भरी हुई वायु को कुछ समय तक धारण करके चौंसठ मात्रा के विशिष्ट उकार स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। फिर बत्तीस मात्राओं से विशिष्ट मकार का चिंतन करते हुए पिंगला नाड़ी के द्वारा धीरे–धीरे रेचन करना चाहिए। पुनः पिंगला नाड़ी से यही क्रम दोहराना चाहिए। छः महिने तक इसका अभ्यास करने के मनुष्य ज्ञानवान हो जाता है। एक वर्ष तक नित्य अभ्यास करने से ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। जो मनुष्य योगाभ्यास में संलग्न रहता है और सदा धर्म पालन में तत्पर रहता है, प्राणायाम के द्वारा ही वह मुक्त हो जाता है। **त्रिशिखिब्राह्मणापेनिषद्** में कुंभक तथा नाड़ी शोधन की चर्चा की गई है।

प्राणायाम की तीन श्रेणियां बताई गई हैं। जो प्राणायाम प्रस्वेद जनक होता है, पसीना लाने वाला होता है वह अधम प्राणायाम है। यदि प्राणायाम के समय शरीर में कंपन हो तो मध्यम श्रेणी का प्राणायाम और यदि प्राणायाम करते समय शरीर ऊपर उठता हुआ प्रतीत हो तो वह उच्च कोटि का प्राणायाम है। अतः इस अवस्था को प्राप्त होने तक प्रणायाम का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अभ्यास करते रहना चाहिए। इसकी प्राप्ति पर विद्वान सुखी हो जाता है। प्राणायाम से चित्त से विशुद्ध होता है तब विशुद्ध चित्त में शुद्ध आत्म तत्त्व का साक्षात्कार होने लगता है। रोगमुक्ति भी प्राणायाम संभव है। दोनों संध्याओं में अथवा प्रातः और मध्याह्न में वायु को पूरक कर उदर, नासिका के अग्र भाग, नाभि के मध्यम भाग और पैरों के अंगूठे में उस वायु को धारण करने से सब रोगो से मुक्ति मिल जाती है। पैरों के अंगूठे में वायु को धारण कर शरीर में हल्कापन आता है। जिह्वा से वायु को खींचकर पीने वाला थकावट और जलन से मुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त जिह्वा के मूल भाग पर, आज्ञा चक्र पर नेत्रों, कानों नाभि, मस्तक आदि पर वायु को धारण करने से तत्संबंधी रोगों का नाश होता है। इसी प्रकार वायु को मूलाधार में धारण करने से कुंडलिनी जागृत होने लगती है। इस अभ्यास से भी वायु पर विजय पाई जा सकती है। अतः प्राणायाम के अभ्यास से सर्वरोगों से मुक्ति हो जाती हैं। **लक्ष्युपनिषद्** में कहा गया है कि पूरक के द्वारा प्रणव पर नाना प्रकार से तल्लीन हुए योगीजन चैतन्य स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। इसके अतिरिक्त प्राणायाम के अंतर्गत सुषुम्ना नाड़ी में प्रणव के विशुद्ध अनाहत नाद को सुना जा सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राणायाम से सिर्फ रोगों से मुक्ति ही नहीं मिलती है वरन् शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का साक्षात्कार भी किया जा सकता है। **त्रिशिखिब्राह्मणापेनिषद्** में कुंभक तथा नाड़ी शोधन प्राणायाम की चर्चा की गई है।

5. प्रत्याहार–प्रत्याहार का अर्थ है प्रति + आहार अर्थात् विपरीत आहार। इंद्रियों को अपने विषयों से विमुख करना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार के कई रूप हैं। उपनिषद् कहता है कि विषयों में विचरने वाली इंद्रियों को बलपूर्वक वहां से लौटाने का प्रयत्न ही प्रत्याहार है, बह्म में चित्त को एकाग्र करना, प्रत्याहार है, अपने समस्त कर्मों को परमात्मा में समर्पित करना प्रत्याहार है, स्वयं को निर्द्वंद्व निर्विकल्प स्वरूप आत्मा में स्थापित होना प्रत्याहार है। कहने का तात्पर्य है कि इंद्रियों को बाहर से भीतर की ओर मोड़ना, मुक्ति प्रदायक आलंबनों पर केंद्रित करना प्रत्याहार है। प्रत्याहार के फल को बताते हुए कहा है कि प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले साधक के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है अर्थात् सब कुछ सुलभ है।। **त्रिशिखिब्राह्मपनिषद्** में प्रत्याहार हेतु अठारह मर्मस्थानों आंलबन बताया है–पैर का अंगूठा, गुल्फ, जंघामध्य, उरुमध्य और मूल, पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकर्पूर, तालुमूल, घ्राणमूल, नेत्रमंडल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय और करमूल।

6. धारणा–धारणा है धारण करना। धारणा की विधि बताते हुए कहा है कि पंचतत्त्व से निर्मित शरीर में क्रमशः बाहरी आकाश, पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल तत्तवों की धारणा करनी चाहिए। फिर हं, यं., रं, वं, लं बीज मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए। इस धारणा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है साथ ही इसे सर्व पापों का नाश करने वाली भी बताया है। शरीर में पैर से घुटने तक का स्थान पृथ्वी तत्त्व का, का, घुटने से लेकर गुदा तक का जल तत्त्व का, गुदा से, गुदा से हृदय तक का भाग अग्नि तत्त्व का, हृदय लेकर भौंहों के मध्य भाग तक वायु का और भौंहों के मध्य भाग से मस्तिष्क का भाग आकाश तत्त्व का है। इनमें क्रमशः बह्म, विष्णु और शिव तथा सदाशिव की धारणा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त बोधमय, आनंदमय एवं कल्याणस्वरूप परमात्मा की प्रतिदिन धारणा करनी चाहिए। इससे सब पापों से मुक्ति मिलती है। **त्रिशिखब्रह्मणोपषिद्** में पंचभौतिक देह के पंचभूतों में या से युक्त मन का धारण ही धारणा कहा है जो संसार सागर से तारने वाली है।

7. ध्यान–एक आलंबन पर चित्त की सघन एकाग्रता ध्यान है। ध्यान को संसार बंधन का नाश करने वाला बताया गया है। बुद्धि में निश्चय करना कि परमब्रह्म परमात्मा मैं ही हूं तथा निर्विशेष का ध्यान करना मोक्ष की प्राप्ति में सहायक है। ध्यान के अभ्यासी को निःसंदेह बह्म का विशेष ज्ञान हो जाता है। **श्वेताश्वरोनिषद्** कहता है कि ओंकार का जप और उसके अर्थस्वरूप परमात्मा का निरंतर ध्यान करना चाहिए। परमात्मा का निरंतर ध्यान करते–करते जब वह उसे जान लेता है तब सारे बंधन, सारे क्लेश मिट जाते हैं। शरीर नाश होने पर वह स्वर्गलोक के सारे ऐश्वर्यों को त्याग कर सर्वथा आप्तकाम अर्थात् पूर्ण काम हो जाता है। अतः परमात्मा का ध्यान साधक को पूर्णकाम बना देता है। **त्रिशिखब्रह्मणोपषिद्** में परम परमात्मा वासुदेव का का चिंतन ही ध्यान कहा है। ध्यान के दो रूप बतए हैं सगुण और निर्गुण।

8. समाधि–उपनिषद कहता है कि परमात्मा और जीवात्मा की एकता के विषय में निश्चयात्मक बुद्धि का उदय होना ही समाधि है। जब परमात्मा अपने आत्मरूप से अनुभव होने लगे तब वह परमात्व भाव को प्राप्त हो जाता है। साधक जब

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपनी आत्मा को परमार्थ स्वरूप देखता है और संपूर्ण जगत को माया का विलासमात्र मानता है तब उसे परमानंद की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य है कि चेतना अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तो वहां सारी माया, सारे भ्रम टूट जाते हैं। तब चेतना बंधनमुक्त होकर स्वतंत्र हो जाती है। अपने स्वतंत्र स्वरूप में वह शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है। यही अवस्था समाधि है। **त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्** में कहा है कि मैं ही परब्रह्म हूं, मैं ही ब्रह्म हूं, ऐसी सम्यक् स्थिति को जानो जिसमें कोई वृत्ति नहीं रहती हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में आत्म तत्त्व को, परमात्म तत्त्व या ब्रह्म तत्त्व को सर्वोपरि माना है। उसकी प्राप्ति को साधक का लक्ष्य माना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग के विभिन्न अंगों को स्पष्ट किया है और अनेक विधियां भी बताई हैं। अतः साधक साधना के, योग के उच्च शिखर पर पहुंचने के लिए, समाधि की अवस्था को प्राप्त करने के लिए योग के अंगों का जितना ही अधिक प्रयोग करेगा, उतना ही अधिक अपने स्वरूप के निकट पहुंचेगा।

1.9 गीता में योग

वैदिक परंपरा में गीता का अपना विशेष स्थान है। गीता श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य हुई वार्ता का संवादशैली में रचित ग्रंथ है। गीता मूलतः वैदिक ज्ञान का सार है जो वैदिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण उपनिषद् भी है। इसे गीतोपनिषद् भी कहा जाता है। अठारह अध्यायों में रचित यह ग्रंथ मानव जीवन को अनेक दशाओं, अनेक स्थितियों, परिस्थियों में समभाव में रहकर कर्तव्य करने की शिक्षा देता है। चूंकि मानव प्रकृति के तीन गुणों यथा सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के अधीन रहकर व्यवहार करता है। जिसमें जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी का वर्चस्व रहता है। यह सत्य है कि मानव प्राणी अपूर्ण है, अल्पज्ञानी है। इसलिए सामान्यतया वह जीवनभर किसी न किसी समस्या से, किसी न किसी दुःख से, ताप से कम या अधिक रूप से ग्रसित रहता है। कई बार उसे समाधान मिलता है तो सुख का अनुभव करता है और कई बार वह पूर्णतया समाहित नहीं हो पाता है तो दुःख का अनुभव करता है। गीता के ज्ञान का उद्देश्य मानव प्राणी को इस दुःख से, इस भौतिक जगत के अज्ञान से उबारना है जिससे वह क्षणिक सुख को नहीं वरन् स्थाई सुख को, परम सुख को, परम आनंद को प्राप्त कर सके और अंततः अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सके। वह वास्तविक स्वरूप कोई और नहीं वरन् स्वयं ब्रह्म है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः** –अर्थात् समस्त भूतों में अंतर्यामी रूप से स्थित मैं ही सबका आत्मा हूं। अतः जीवात्मा उस परम ब्रह्म का ही अंश है। अंतर मात्र इतना है कि जीवात्मा कर्मों से लिप्त है और परमात्मा मुक्त है। बंधन के कारण ही सामान्य व्यक्ति अपने स्वरूप को नहीं जानता है। इस बंधन के कारण ही अधर्म भी होते हैं। उस अधर्म के विनाश के लिए भी वही परमात्मा प्रकट होते हैं। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत...।** जब–जब धर्म की हानि होती है, उसकी पुनर्स्थापना हेतु तब–तब मैं प्रकट होता हूं।

गीता के समस्त अध्याय किसी न किसी योग से परिपूर्ण हैं जिनमें समत्व योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्म योग, सन्यास योग, ब्रह्मयोग आदि–आदि हैं। जिज्ञासु या साधक प्राणी इस ज्ञान के द्वारा परम यात्रा का प्रारंभ करता है और अंततः मंजिल तक पहुंचता है। गीता में योग को परिभाषित करते हुए कहा है–

सम्त्वम् योगउच्यते –समता ही योग है। 2/48

योगः कर्मसु कौशलम्– कार्यों में कुशलता ही योग है। 2/50

गीता में योग में स्थित पुरुष को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। यही समता है और यही कार्य में कुशलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. स्थितप्रज्ञ की विशेषताएं

चूंकि योग की अंतिम परिणति आत्म तत्त्व की प्राप्ति है, मोक्ष की प्राप्ति है। जब साधक उस मार्ग का अनुसरण करता है तो वह सत्य के परिचित होता है। तब उसके आचार–व्यवहार में कई सकारात्मक परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। कहने का तात्पर्य है कि उसका व्यवहार एक विशेष व्यवहार होता है जिसे स्थितप्रज्ञ कहा गया है। गीता के द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ की विशेषताएं निम्न प्रकार बताई गई हैं–

1. योगी मनोधर्म से उत्पन्न होने वाली इंद्रिय तृप्ति की समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है और जब इस प्रकार से विशुद्ध हुआ मन आत्मा में संतोष प्राप्त कर लेता है तो वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है।
2. जो अविचलित रहता है, सुख में सम रहता है आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त है, वह स्थिर बुद्धि वाला मुनि है।
3. सुख की प्राप्ति में न हर्षित होता है और न दुःख की प्राप्ति पर घृणा करता है वह ज्ञान में स्थिर हो जाता है।
4. जैसे कछुवा अपने अंगों को संकट के समय भीतर की ओर समेट लेता है वैसे ही योगी मनुष्य इंद्रियों को विषयों से कछुवे के अंगों की भांति खींच लेता है तब वह पूर्ण चेतना में दृढ़तापूर्वक स्थिर हो जाता है।
5. जो इंद्रियों को पूर्णतया वश रखते हुए इंद्रिय संयम करता है और अपनी चेतना को मुझमें अर्थात् परम तत्त्व पर स्थिर करता है, वह स्थिरबुद्धि कहलाता है।
6. जिस पुरुष की इंद्रियां अपने–अपने विषयों से सब प्रकार से विरत होकर उसके वश में है उसकी बुद्धि स्थिर है।
7. जो मनुष्य न तो कर्मफलों से घृणा करता है और न ही कर्मफल ही इच्छा रखता है वह नित्य सन्यासी जाना जाता है। 3/5
8. जो मनुष्य में कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धि और सब प्रकार से कर्मों में प्रवृत्त रहकर भी दिव्य स्थिति में रहता है। 4/18
9. जो पुरुष अपने कर्मफल के प्रति अनासक्त है और जो अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही सन्यासी और वास्तविक योगी है। 6/1

2. योग मार्ग की बाधा एवं समाधान

योग सामान्य क्रिया नहीं अपितु अतिसामान्य क्रिया है जिसका परम लक्ष्य है समाधि की अवस्था को, आत्म तत्त्व या परम तत्त्व को जानना। इस मार्ग में चलना इतना सरल कार्य नहीं है अपितु पुरुषार्थ साध्य है। योग मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है मानसिक विक्षेप, मानसिक चंचलता। मन के सहयोग से ही इंद्रियां बर्हिगामी होती हैं। परिणाम स्वरूप सुख नहीं अपितु दुःख की प्राप्ति होती है। गीता में कहा है कि मन चंचल है जो वायु को वश के करने से भी अधिक कठिन है। 6/34 कहा है कि जिस प्रकार पानी में तैरती नाव प्रचंड वायु को दूर बहा ले जाती है, उसी प्रकार विचरणशील इंद्रियों में कोई एक जिस विषय पर मन निरंतर लगा रहता है, मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है। (2/67) जो कर्मेन्द्रियों को वश में करता है लेकिन मन इंद्रिय विषयों का चिंतन करता है वह निश्चित ही स्वयं का धोखा देता है और मिथ्याचारी होता है। 3/7अतः आवश्यकता है कि मन पर अंकुश हो जिससे मानव अपनी प्रकृति के अनुरूप कर्म कर सकेगा और परम तत्त्व को जान सकेगा।

मन को वश में करना ही योग का प्रारंभिक बिन्दु है। जैसे–जैसे मन प्रशिक्षित हो जाता है वह समाधि की अवस्था को प्राप्त लेता है। गीता में भी मन को प्रशिक्षित करने के लिए अभ्यास और वरौग्य 6/35 को प्रमुख माना है। यह अभ्यास और वैराग्य कई तरह से किया जा सकता है जिसके लिए योग की अलग–अलग विधियों को जानना भी आवश्यक है। कहने क तात्पर्य है सर्वप्रथम स्वयं के अस्तित्व को जानना होगा तत्पश्चात कर्म की बात फलित होगी। पहले सैद्धांतिक ज्ञान फिर उसके अनुरूप क्रिया करना योग के लिए आवश्यक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. गीता में निर्दिष्ट प्रमुख योग

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि गीता के समस्त अध्याय योग से परिपूर्ण हैं लेकिन इनमें ज्ञान एवं कर्मयोग को प्रमुखता दी गई है। ज्ञान योग में तत्व मीमांसा है तो कर्म योग में आचार मीमांसा जिनका विवरण निम्न प्रकार है–

1. ज्ञानयोग –ज्ञानयोग में ज्ञान के माध्यम से परम तत्त्व की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। इसमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन सहयोगी बनता है। गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञानयेग के द्वारा जीवन के वास्तविक अस्तित्व की जानकारी दी जिससे वह अपने को पहचान सके, मोहग्रस्तता, आसक्ति को त्याग सके और अपने कर्तव्य का पालन कर सके। प्राणी का जीवन जड़ और चेतन का समन्वय है। मानव अज्ञानता के कारण चेतन को भूलकर जड़ को महत्त्व देता है। जिससे वह वास्तविकता से कोशों दूर होकर बाह्य जगत में रमण करता है, क्षणिक सुख को प्राप्त करता है पर स्थाई सुख को नहीं। स्थाई सुख चेतन तत्त्व को, आत्म तत्त्व को जानने में है, उसकी प्राप्ति में है। युद्धक्षेत्र में अर्जुन मोहग्रस्त होकर युद्ध करने को तत्पर नहीं होते हैं। अतः श्रीकृष्ण आत्म तत्व की अमरता का ज्ञान देकर अर्जुन की मोहग्रस्ता को दूर करने का प्रयास करते हैं। अतः श्रीकृष्ण द्वारा दिया तत्वज्ञान या ज्ञानयोग निम्न प्रकार है–

आत्मा का स्वरूप–आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए गीता के **द्वितीय अध्याय** में कहा है कि आत्मा शरीर में बाल्यावस्था, तरुणावस्था और वृद्धावस्था में निरंतर अग्रसर होती रहती है और मृत्योपरांत दूसरे शरीर में चली जाती है। सत आत्मा सदैव अपरिवर्तशील है। अतः अव्यवय आत्मा को नष्ट करने में कोई समर्थ नहीं है। आत्मा न तो किसी को मारती है और न ही किसी के द्वारा मारी जाती है क्योंकि यह आत्मा जन्म–मृत्यु से परे है। वह अजन्मा नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मारी जाती है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने तथा व्यर्थ शरीर को त्याग कर नवीन भौतिक शरीर धारण करती है। न तो इसे किसी शस्त्र के द्वारा खंडित किया जा सकता है, न अग्नि के द्वारा जलाया जा सकता है, न जल के द्वारा भिगोया जा सकता है और न वायु के द्वारा सुखाया जा सकता है। यह शाश्वत सर्वव्यापी, अविकारी, स्थिर तथा सदैव एक सा रहने वाला है। अव्यक्त, अकल्पनीय तथा अपरिवर्तनशील कहा जाता है। अतः जो सदैव है, उसके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है। चूंकि आत्म तत्त्व परम तत्त्व का अंश है उसी तत्त्व का विस्तार है जिससे वह उससे अभिन्न है। अस्तित्व के लिए दो तत्व कार्यरत रहते हैं–परा और अपरा। इसका वर्णन करते हुए गीता के **सातवें अध्याय** में श्रीकृष्ण कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, मन, बुद्धि तथा अंहकार ये आठ प्रकार से विभक्त मेरी अपरा प्रकृतियां हैं। इसके अतिरिक्त एक परा शक्ति है जो परम तत्त्व है। अतः इस जगत में जो भी भौतिक तथा आध्यात्मिक है, उसकी उत्पत्ति तथा प्रलय मुझ ही जानो। जिस प्रकार मोती धागे में गुथे रहते हैं, उसी प्रकार सब मुझ पर आश्रित हैं। मैं जल का स्वाद हूं, सूर्य तथा चंद्रमा का प्रकाश हूं, वैदिक मंत्रों में ओंकार हूं, आकाश में ध्वनि हूं, मनुष्य में सामर्थ हूं। मैं ही पृथ्वी की आद्य सुगंध हूं और अग्नि की ऊष्मा हूं, समस्त जीवों का जीवन तथा तपस्वियों का तप हूं। समस्त जीवों का आदि बीज, बुद्धिमानों की बुद्धि तथा समस्त तेजस्वी पुरुषों का तेज हूं। मैं बलवानों की कामनाओं तथा इच्छा से रहित बल हूं। मैं वह काम हूं जो धर्म के विरुद्ध नहीं है। मेरे द्वारा सारे गुण प्रकट होते हैं। मैं सब कुछ किन्तु स्वतंत्र हूं।

स्पष्ट होता है कि आत्मा का वास्तविक रूप शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। जो उसके स्वरूप को जान लेता है वह दुःखी नहीं अपितु परम सुखी रहता है। आत्म तत्त्व को जानने का अर्थ है परम तत्त्व को जान लेना। वह आत्म तत्त्व अथवा परम तत्त्व कोई और नहीं अपितु स्वयं ब्रह्म है।

2. कर्मयोग–इसमें कर्म के द्वारा परम तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है। कर्म भी दो प्रकार के हैं सकाम और निष्काम। सकाम कर्म आसक्तिपूर्ण होते हैं और किसी न किसी परिणाम की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं परंतु निष्काम कर्म

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनासक्त भाव से और फल की इच्छा के बिना किए जाते हैं। गीता के तृतीय और पंचम अध्याय में कर्मयोग को विशेष महत्त्व दिया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि **कर्मण्येवाधिकरस्ते मा फलेषु कदाचन्...**। तुम्हें कर्म करने का अधिकार है पर फल पर नहीं। अतः न तो स्वयं को कर्मों के फल का कारण मानो, न ही अकर्म पर आसक्त होओ। अतः जयविजय की समस्त आसक्ति त्याग कर समभाव से अपना कर्म करो। यही समता योग है। सकाम कर्मफलों को भोगने की चाह रखने वाला कृपण है। जब बुद्धि मोह रूपी सघन वन को पार कर जाएगी तो तुम सुने हुए तथा सुनने योग्य सबके प्रति अन्यमनस्क हो जाओगे। जब मन वेदों के ज्ञान से अविचलित न हो और आत्म साक्षात्कार की समाधि में स्थिर हो जाए तब तुम्हें दिव्य चेतना प्राप्त हो जाएगी।।

गीता में कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है। अतः कोई भी क्षण मात्र के लिए अकर्म नहीं रह सकता है। जो इंद्रियों को वश में तो करता है पर इंद्रिय सुखों का चिंतन करता है वह मिथ्याचारी है और कर्मेंद्रियों को वश कर अनासक्त कर्म करता है वह अति उत्कृष्ट है। अतः अपना नियत कर्म करना चाहिए क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म के बिना तो शरीर निर्वाह भी नहीं होता है। यह सत्य है कि कर्म कि बिना रहना सामान्य व्यक्ति के लिए सरल कार्य नहीं है। कर्म मानसिक हो सकता है, वाचिक हो सकता है और कायिक हो सकता है। शरीर से निकम्मा बैठा रहने वाला व्यक्ति भी मानसिक रूप से कर्म करता है। अर्थात् वह सोचता–विचारता है, चिंतन करता है जिसमें कर्मबंध तो होता ही है। योग की दृष्टि से यही चिंतन–मंथन अनासक्त रूप से हो, आत्म कल्याण के लिए प्रेरित हो तो मुक्ति का साधन बन जाता है। गीता में कहा है कि कर्म को यज्ञ रूप में करना चाहिए अन्यथा कर्म के द्वारा बंधन उपन्न होता है। अतः यज्ञ रूप से कर्म करने से या ऐसे यज्ञों से देवता प्रसन्न करते हैं और इससे देवताओं तथा मनुष्यों के सहयोग से सब का कल्याण होता है। अतः कर्मफल में आसक्त हुए बिना मनुष्य को अपना कर्तव्य समझकर निरंतर कर्म करते रहना चाहिए। अनासक्त कर्म करने से ही उसे परब्रह्म की प्राप्ति होती है। अपने अनुकरणीय विषय से जो आदर्श प्रस्तुत करते हैं, संपूर्ण विश्व उसका अनुसरण करता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि तीनों लोकों में मेरे लिए कोई भी कर्म नियत नहीं है, न मुझे किसी वस्तु का अभाव है और न ही आवश्यकता है तो भी मैं नियत कर्म करने में तत्पर रहता हूं। अतः विद्वानों को चाहिए कि वे सकाम कर्म में लगे लोगों को कर्म करने से नहीं अपितु भक्तिभाव से कर्म करने के लिए नियोजित करें। सामान्य प्राणी अज्ञानतावश स्वयं को कर्ता–भोक्ता सब कुछ मानता है लेकिन यह सत्य नहीं है। गीता में भी कहा है कि जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से कर्मों का कर्ता स्वयं को मान बैठता है जब कि वह प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा संपन्न किए जाते हैं। अतः दोनों कर्मों में भेद जानकर बुद्धिमान स्वयं को इंद्रिय विषयों पर नहीं लगाता। अर्थात् सकाम और निष्काम कर्मों में भेद जानकर ही बुद्धिमान सकाम कर्मों में आसक्त नहीं होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे समर्पित करते हुए ज्ञानयुक्त होकर, लाभ की आंकाक्षा से रहित स्वामित्व के बिना तथा आलस्य रहित होकर कर्म करो। जो मेरे अनुसार कर्तव्य करते हैं, ईर्ष्या रहित होकर इस उपदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं, वे सकाम कर्मों के बंधन से मुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ बताते हुए कहा है कि कर्मेंद्रियां जड़ पदार्थ अपेक्षा श्रेष्ठ है, मन इंद्रियों से बढ़कर है, बुद्धि मन से भी उच्च है, वह आत्मा बुद्धि से भी बढ़कर है। अतः काम रूपी दुर्जय शत्रु को जीतना चाहिए। कहने का तात्पर्य है कि आत्म तत्त्व श्रेष्ठता को तब पहचाना जा सकता है जब वासना रूपी, आसक्ति रूपी दुर्जय शतु को जीता जाए। इसे जीतने पर ही कर्मबंधनों से मुक्ति मिल सकेगी। जो व्यक्ति भक्ति भाव से कर्म करता है, जो विशुद्ध आत्मा है, अपने मन तथा इंद्रियों को वश में रखता है, वह सबको प्रिय होता है और सभी लोग उसे प्रिय होते हैं। ऐसा व्यक्ति कर्म करते हुए भी नहीं बंधता है। 5/7 अतः कर्मयोग की महत्ता यही है कि मानव प्राणी जितना इसके पास होगा, उतना ही वह आत्म तत्त्व के पास भी होगा जो मानव प्राणी का लक्ष्य भी होना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. ध्यान की अन्य विधियां एवं परिणाम

गीता के छठे अध्याय में ध्यान–योग की कुछ विधियां भी बताई गई हैं जिनके अभ्यास से साधक योग की उच्च भूमिकाओं में पहुंच सकता है। अतः कहा गया है कि साधना के मार्ग के लिए एकांत स्थान उपयोगी है जिसमें ध्यान साधना हेतु उचित आसन तथा शरीर की समस्थिति का भी निर्देश है। इसके अतिरिक्त मन, इंद्रियों तथा कर्मों को वश में करते हुए मन को एक बिंदु पर स्थिर करके ह्रदय को शुद्ध करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त शरीर, गर्दन तथा सिर को सीधा रखते हुए नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। विषयी जीवन से पूर्णतया मुक्त होकर के अपने ह्रदय में परमात्मा का चिंतन तथा उसी को चरम लक्ष्य बनाना चाहिए। इस प्रकार शरीर, मन तथा कर्म में रिनंतर संयम का अभ्यास करते हुए संयमित मन वाले योगी को इस भौतिक अस्तित्व की समाप्ति पर परमात्मा की प्राप्ति होती है। दैनिक चर्या में खाने में, सोने में आमोद–प्रमोद में तथा काम की आदतों में नियमित रहने वाला समस्त भौतिक क्लेशों को नष्ट कर सकता है। जिस प्रकार तीव्र वायु रहित स्थान में दीपक जला रहता है ऐसे ही जब योगी का मन वश में होता है तो आत्म तत्त्व के ध्यान में सदा स्थिर रहता है। आज्ञाचक्र पर ध्यान केन्द्रित कर, वायु को रोककर स्थिर रहने वाला साधक मुक्त हो जाता है। समाधि की स्थिति में वह आनंदमयी स्थिति में रहता है। ऐसा मनुष्य कभी सत्य से विपथ नही होता है यही उसके लिए सबसे बड़ी प्राप्ति है। वास्तविक मुक्ति यही है। अतः साधक को संकल्प और श्रद्धा के साथ योगभ्यास करना चाहिए। धीरे–धीरे क्रमशः पूर्ण विश्वास पूर्वक बुद्धि के द्वारा समाधि में स्थित होना चाहिए और मन को आत्मा में ही स्थित करना चाहिए। विचरणशील मन को अपने वशवर्ती करना चाहिए। इस प्रकार निरंतर योगाभ्यास में लगा हुआ योगी समस्त कल्मषों से मुक्त हो जाते हैं और परमात्मा की दिव्य प्रेमाभक्ति में परम सुख प्राप्त करता है। वास्तविक योगी परमात्मा को सभी में और सभी जीवों में परमात्मा को देखता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मुझमें देखता है उसके लिए न तो मैं कभी अदृश्य होता हूं और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है। पूर्णयोगी वह है जो अपनी तुलना में समस्त प्राणियों की उनके सुखों तथा दुःखों में वास्तविक समानता का दर्शन करता है।

इसके अतिरिक्त भी गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति मन को मेरे सकार रूप में एकाग्र करते हैं और समस्त श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा में लगे रहते हैं वे मेरे द्वारा परम सिद्ध माने जाते हैं। जो सारे कर्मों को मुझमें अर्पित करके तथा अविचलित रहकर मेरी भक्ति करते हैं और अपने चित्त को मुझ पर स्थिर करके निरंतर मेरा ध्यान करते हैं मैं उनके जन्म–मृत्यु के सागर में शीघ्र उद्धार करने वाला हूं। गीता में सभी प्रकार के मनुष्यों को साधना का समान अधिकार है। अतः कोई भी स्त्री, पुरुष, पतिता, अथवा योनि का मनुष्य भी परमात्मा को पा सकता है। अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि सब धर्मों का त्याग कर मेरी शरण में आ जाओं, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा। इसके स्पष्ट होता है कि वह ब्रह्म ही है जिसका सगुण या निर्गुण ध्यान करने से साधक अपने मन पर नियंत्रण रख सकता है और उसकी सत्ता को ज्ञात कर सकता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गीता का संपूर्ण ग्रंथ योगमय है जिसमें ज्ञान के द्वारा, भक्तिमय कर्मों के द्वारा, निष्काम कर्मों के द्वारा या अन्य ध्यान विधि के द्वारा परम तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

I. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. योग शब्द का अर्थ क्या है?
2. योग की कोई एक परिभाषा दीजिए।
3. योग के आदि प्रणेता कौन थे?
4. वेद का अर्थ क्या है?
5. गीता के अनुसार समता योग क्या है?

II. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. योग का परिचय दीजिए।
2. योग के स्रोत क्या हैं?
3. ऋग्वेद में योग संबंधी विचारों को बताइए।
4. उपनिषद् में निर्दिष्ट यमों को बताइए।
5. गीता के अनुसार आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

III. निबंधात्मक प्रश्न

1. योग को परिभाषित करते हुए इसके प्रकारों को बताइए।
2. वेदों में योग के स्वरूप को समझाइए।
3. उपनिषदों के अनुसार योग को स्पष्ट कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.11 संदर्भ ग्रंथ

1. प्रो. रामहर्ष सिंह, 1994, योग एवं यौगिक चिकित्सा (भूमिकाः प्रो. उडुपा), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली–7
2. Jemes Hewitt [1983] The complete yoga Book Hut Chinson Publishing Group Great Bretain by Anothor Press Ltd.
3. पं. हरिकृष्ण शास्त्री दातारः प्रथम संस्करण 1986, योगः सिद्धान्त एवं साधना, चौखंबा विद्या भवन वाराणसी
4. प्रेम भाटियाः प्रथम संस्करणः 1997, योग एक सहज प्रयास, हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा. लि., जी.टी. रोड, दिल्ली–110095
5. जवाहर लाल जैन, भारतीय श्रमण संस्कृति, ग्रन्थ भारती, जयपुर
6. बंशीधर सिंह एवं भूदेव शास्त्री, भारतीय शिक्षा का सक्षिप्त इतिहास, (1971) गया प्रसाद एंड संस, आगरा
7. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व वेद–
8. वेद कथांक, गीता प्रेस गोरखपुर
9. उपनिषद् अंग–गीता प्रेस गोरखपुर
10. योगांक गीता प्रेस गोरखपुर
11. श्रीमद् भगवद्गीता–श्री भक्तिवेदानंत स्वामी प्रभुपाद, भक्ति वेदांत ट्रस्ट ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–2 पातंजल योग (अ)

इकाई की संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 योग का स्वरूप

2.1.1 योग की परिभाषा

2.2 चित्तवृत्तियां

2.2.1 वृत्तियों के प्रका

2.3 वृत्ति निरोध के साधन

2.3.1 अभ्यास और वैराग्य

2.4 ईश्वर का स्वरूप

2.5 योगांतराय (योग के विघ्न)

2.6 चित्त को स्थिर करने के उपाय

2.7 अभ्यास प्रश्न

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ से निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया सकता है–

1. योग की परिभाषा को जान सकेंगे।
2. वृत्तियों को समझ सकेंगे।
3. वृत्तियों के निरोध में अभ्यास और वैराग्य की भूमिका को जान सकेगें।
4. ईश्वर के स्वरूप जान सकेगे।
5. समाधि में आने वाले अन्तरायों को जान सकेंगे।
6. योगांतराय को दूर कर चित्त को प्रसन्न रखने वाले उपायों को समझ सकेंगे।

भारतीय संस्कृति योग प्रधान संस्कृति है। समय–समय पर यहां पर योग की अनेक विधाएं, अनेक पद्धतियां और अनेक शाखाएं प्रचलित रही है। इतना ही नहीं वरन् तत्संबंधी ग्रंथ भी समय–समय पर साधक का मार्ग दर्शन करने में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। पातंजल योग सूत्र इनमें प्रमुख है। पातंजल योग सूत्र महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणीत एक ऐसा ग्रंथ है जो व्यवस्थित, वैज्ञानिक एवं लोकप्रिय है। योग संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्रों को एक धागे में पिरोकर उसे माला का रूप देकर महर्षि पतंजलि ने एक सुन्दर आकार तो दिया ही है साथ ही कम शब्दों में अधिकाधिक बात रखने अथवा गागर में सागर भरने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया है। इससे साधना के मार्ग में जाने वाले व्यक्ति अपनी क्षमता, अपनी योग्यता और अपनी निष्ठा के आधार पर योग की उच्च स्थितियों को प्राप्त कर सकते हैं। पातंजल योग सूत्र चार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पादों में विभक्त है –समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। समाधिपाद के अंतर्गत समाधि से संबंधित आवश्यक जानकारी है तो साधनपाद में समाधि हेतु विभिन्न साधन हैं, विभूतिपाद में अनेक सिद्धियों की चर्चा है तो कैवल्यपाद के स्वरूप की चर्चा है। ये चारों पाद एक दूसरे के पूरक हैं। योग शब्द जितना छोटा है, इसकी साधना उतनी ही जटिल भी है। जो इस मार्ग में चलता है, उसे कई तरह के अंतरायों का भी सामना करना होता है। जो इन अंतरायों को पार कर लेता है, वह निश्चित ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अतः प्रस्तुत पाठ में योग के स्वरूप, वृत्तियां, अंतराय, चित्त को स्थिर करने के उपायों आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।

2.1 योग का स्वरूप

योग शब्द युज धातु से बना है जिसका सामान्य अर्थ जोड़ना है। विद्वानों ने इसे अनेक अर्थों में व्याख्यायित किया है। पतंजलि ने इसे चित्त वृत्ति निरोध के रूप में स्वीकारा है। पातंजल योग के यदि सारे सूत्रों का निचोड़ निकाला जाए तो तीन सूत्रों में पूरा सार निकल जाता है –योग: चित्त वृत्ति निरोध है, उसके लिए अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है, तत्पश्चात् द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इन तीन सूत्रों के आगे–पीछे योग से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारियां सूत्रों में बद्ध है। अतः सबसे पहले योग को, उसके स्वरूप को विस्तार से समझना आवश्यक होगा। योग के स्वरूप को योग के सूत्र द्वारा ही, उसकी परिभाषा द्वारा ही सरलता से समझा जा सकता है जो निम्न है–

2.2.1 योग की परिभाषा

पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है–

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः– चित्त वृत्तियों को रोकना ही योग है। अर्थात् चित्त की बहिमुर्खी वृत्तियां जो विषय भोगों में लिप्त रहती हैं, उन्हें अपने विषयो से अंतर्मुखी करना अर्थात् अपने कारण चित्त में लगाना ही योग है।

इस श्लोक में तीन बातें प्रमुख हैं –चित्त, वृत्ति और निरोध। इन तीनों को समझना भी आवश्यक होगा।

1. **चित्त**–चित्त शब्द की व्युत्पत्ति चित् धातु से मानी गई है जिसका अर्थ चेतन होने या सचेतन होने से माना गया है। चित्त का संबंध चेतना से है और चेतना का संबध ज्ञान से है। अतः चित्त भी ज्ञान का माध्यम है। चित्त में चेतन, अवचेतन और अचेतन तीनों तल सम्मिलित होते हैं। चेतना के इन तीनों तलों की समग्र अभिव्यक्ति को चित्त कहा गया है। चित्त को कई अर्थों में स्वीकारा गया है पर यहां पर इसका संबंध व्यष्टि चेतना अथवा जीवात्मा से है। चित्त के तीन सोपान माने गए हैं जिनमें हैं–इंद्रिय चेतना अथवा वस्तुनिष्ठ चेतना, आत्मनिष्ठ चेतना तथा शुद्ध चेतना।

2. **वृत्ति**– वृत्ति शब्द वृत से बना है जिसका संबंध न लंबाई से है और न चौड़ाई से वरन् गोलाई से है। अर्थात् वृत्त की आकृति गोल होती है। जिस प्रकार एक शांत तालाब में कंकड़ डालने पर उसमें अनेक तरंगें अपना आकार लेती हैं और आगे बढ़ती रहती हैं जब तक कि अंतिम तट न आ जाए। इसी प्रकार हमारे चित्त में भी वृत्तियां गोलाकार रूप से चलती रहती हैं। चित्त वृत्तियां विचार तरंगों के रूप में होती हैं जो निरंतर अपना प्रभाव चित्त पर डालकर उसे चंचल बनाए रखती हैं। व्यक्ति चाहकर भी इनसे उपरत नहीं हो पाता है। जीवनभर ये वृत्तियां अनवरत रूप से चलायमान रहती हैं। इस अवस्था में चेतना की उच्च भूमियों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

3. **निरोध**–निरोध शब्द की व्युत्पत्ति रुध धातु से मानी गई है जिसका अर्थ कुंठित करना, अवरोध करना या विरोध करना आदि है। भले ही इन शब्दों का अर्थ भिन्न–भिन्न हो पर अभिप्राय एक ही है। निरोध का सामान्य अर्थ है रोकना। जब तक वृत्तियां चंचल होंगी तब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता है, समाधि की अवस्था को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, मोक्ष को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः निरोध आवश्यक है। निरोध उन वृत्तियों का आवश्यक है जो योग से अयोग की ओर ले जाती हैं। योग मार्ग में जाने के लिए वृत्तियों को रोका ही नहीं जाता है वरन् उनकी दिशा को भी रूपांतरित किया जाता है। इसीलिए शायद सर्व वृत्ति निरोध की बात नहीं आती है। यदि ऐसा होता तो फिर योग की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ओर प्रवृति नहीं होती क्योंकि योग मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए भी वृत्ति अथवा विचार तरगें ही सहायक बनेंगी। अतः प्रारंभ में वृत्तियों के रूपांतरण से सद्मार्ग का अनुसरण करना होगा। शनैः–शनैः अभ्यास बढ़ते–बढ़ते चेतना की उच्च भूमिकाओं की प्राप्ति होगी और अंततः एक ऐसी अंतिम अवस्था आएगी जहां वृत्तियां छूट जाएंगी और वह अवस्था योग की होगी।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि चित्त, वृत्ति और निरोध तीनों का ही स्वरूप भिन्न–भिन्न है। भिन्नता होने हुए भी इनका आपसी संबंध है। चित्त है तो वृत्ति भी उसके साथ जुड़ी हुई और जब वृत्ति है तब निरोध की बात आती है। वृत्तियों का निरोध होने पर ही योग संभव है। अतः योग की अवस्था को प्राप्त करने हेतु चित्त, वृत्तियां और निरोध के उपायों को विस्तृत रूप से समझना साथ ही अभ्यासात्मक पक्ष को दृढ़ करना भी आवश्यक है। तभी वृत्तियों का निरोध होने पर स्व स्वरूप की प्राप्ति होती है।

2.2 चित्त वृत्तियां

योग साधन एवं साध्य दोनों रूपों में मान्य है। योग के साध्य रूप की प्राप्ति हेतु वृत्तियों की शांति, उनका निरोध भी आवश्यक माना गया है और यह तभी संभव है जब योग के साधन रूप को अपनाया जाए। जैसा पूर्व में बताया गया है कि वृत्ति का संबंध वृत्त से है। वृत्त का आकार गोल होता है। इसलिए चित्त वृत्तियों का स्वरूप भी गोल है जिन्हें समुद्र में उठने वाली लहरों के समान माना गया है। जिस प्रकार शांत जल प्रवाह में कोई कंकड़ डाल दिया जाता है तो उसमें एक नहीं अपितु अनेक लहरें उत्पन्न होती हैं। ठीक उसी प्रकार से चित्त जब अपनी शांत अवस्था में रहता है तो उसमें सत्वगुण के परिणाम होते रहते है। इसके विपरीत जब चित्त में संस्कारों का उदय होता है तो वह सत्वगुण के स्वरूप को छोड़कर रजोगुण अथवा तमोगुण की अवस्था को प्राप्त करता है। इस अवस्था में वह योग साधना के मार्ग से भटक जाता है और अपने सही स्वरूप को समझ नहीं पाता है। साधना मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए इन वृत्तियों को जानकर इन्हें नियंत्रित किया जा सकता है। इसी संदर्भ में महर्षि जी ने इन वृत्तियों के पांच प्रकारों को स्पष्ट किया है–**वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाअक्लिष्टाः।**

वृत्तियां पांच हैं जो क्लिष्ट (दुःखकर) और अक्लिष्ट (सुखकर) दोनों ही प्रकार की हैं। क्लिष्ट वृत्तियां राग–द्वेष आदि की हेतु होती हैं क्योंकि ये तमस प्रधान होती हैं तथा अक्लिष्ट वृत्तियां राग–द्वेष का नाश करने वाली होती हैं क्योंकि ये सत्वगुण प्रधान होती हैं। अर्थात् जिन वृत्तियों के साथ तमोगुण जुड़ा हो वे तो क्लिष्ट वृत्तियां होती है और जिनके साथ सतोगुण जुड़ा होता है, वे अक्लिष्ट वृत्तियां होती हैं। अर्थात् जिस वृत्ति के मूल में जो भी गुण विद्यमान रहता है, वह वृत्ति वैसी ही होती है। उदाहरार्थ मन की सहायता से कोई पदार्थ या वस्तु जिसे देखकर, चखकर या सूंघकर तत्संबंधी इंद्रिय के ग्राह्य होने पर वह अनुभूति दुःखद होती है तो वह क्लिष्ट वृत्ति के अंतर्गत आती है। इसके विपरीत जिन वस्तु या पदार्थों के साथ मन तदाकार रूप में परिणत होकर सुखद अनुभूति करता है तो वह वृत्ति अक्लिष्ट वृत्ति है। इसे और भी सरलता में समझा जा सकता है। जैसे किसी घृणित वस्तु को देखकर दुःखद अनुभूति का होना क्लिष्ट वृत्ति है और सुंदर पुष्प को देखकर सुखद अनुभूति का होना अक्लिष्ट वृत्ति है। अतः मन की सहायता से इंद्रियों का अपने विषयों के साथ मिलकर जिस तरह की अनुभूति होती है तत्पश्चात् वैसी ही वृत्ति बन जाती है।

2.2.1 वृत्तियों के प्रकार

योगसूत्र के अनुसार वृत्तियों के पांच प्रकार हैं–**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतः।**

अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। इनके भी भिन्न भेद बताए गए हैं जिनकी चर्चा निम्न हैं–

1. प्रमाण (सत्यज्ञान)– प्रमाण सत्य ज्ञान है। सत्य ज्ञान (प्रमा) और साधन (करण) को प्रमाण कहा जाता है। अर्थात् जिस वृत्ति के द्वारा सत्य ज्ञान, सम्यक् ज्ञान या यथार्थ ज्ञान होता है वह प्रमाण है। इसमें चित्त विषय के समान आकार में परिणत हो जाता है। अतः इस संदर्भ में विषय के समान ही आकार वाली चित्तवृत्ति प्रमाण है। जैसे सोना अथवा चांदी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आदि धातुओं, अन्य वस्तुओं या पदार्थों को देखकर चित्त की वृत्ति भी उन्हीं के आकार में परिणत हो जाती है। अर्थात् जो जैसा देखा, जैसा सुना, जैसा अनुभव किया, उसी रूप में चित्त की परिणति का हो जाना प्रमाण का ही द्योतक है। यह ज्ञान इंद्रियों द्वारा, आगमों अथवा आप्त वचनों आदि के बोध से उत्पन्न होता है। जैसे देखना, सुनना, सुख–दुःख का अनुभव होना, अनुमान से जानना, शास्त्रों, आगमों अथवा आप्तपुरुषों की वाणी या विचारों के माध्यम से ज्ञान आदि का होना। प्रमाण चित्त वृत्ति भी तीन प्रकार की होती है–**प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।** प्रमाण हैं– प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ।

अ. प्रत्यक्ष प्रमाण – प्रत्यक्ष प्रमाण वह प्रमाण है जिसमें चेतना इंद्रियों के साथ संबद्ध रहती है। अर्थात् यह चेतना की चेतन अवस्था है जिसमें प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमुख होता है। इस ज्ञान में कोई संदेह नहीं रहता है। जैसे हाथ कंगन को आरसी क्या वाली कहावत प्रत्यक्ष प्रमाण का ही उदाहरण है। ऐसा माना गया है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने ग्राह्य रूप विषयक्रम से एक ही कारण से उत्पन्न होने से इनमें एक दूसरे को आकर्षित करने की शक्ति होती है। जैसे किसी सुन्दर वस्तु का आंख से सन्निकर्ष होने से वस्तु पर दृष्टि टिक जाती है। तत्पश्चात् चित्त का उस वस्तु अथवा विषय के प्रति राग उत्पन्न हो जाता है और वह उस वस्तु के आकार का हो जाता है। चित्त का वस्तु के आकार विशिष्ट परिणाम ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः मैं वस्तु को जानने वाला हूं, देखने वाला हूं आदि का भाव प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण भी सदैव एक सा नहीं रहता है। जब तक इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि विषय के तदाकार रहेंगे तभी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है अन्यथा नहीं। विषय सामने हो लेकिन इंद्रियां, मन बुद्धि उसके साथ नहीं जुड़ते हैं तो ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष ज्ञान हो ही नहीं सकता है। विषय हैं पर इंद्रियां स्वस्थ नहीं हैं, इंद्रियां स्वस्थ हैं पर मानसिक अन्यमनस्कता है अर्थात् मन का भटकाव है तब प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है। इंद्रियां और मन स्वस्थ है पर बुद्धि भ्रमित है तब भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः इंद्रिय, मन और बुद्धि तीनों की समन्विति ही प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्ण चेतन अवस्था की स्थिति है।

ब. अनुमान प्रमाण – अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न प्रकृति वाला है। इस ज्ञान में कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है वरन् परिणाम के आधार पर कारण का अनुमान लगाया जाता है। अतः लिंग–लिंगी, साधन–साध्य अथवा कार्य–कारण के संबंध से होने वाला ज्ञान अनुमान प्रमाण है। अर्थात् यह ज्ञान प्रत्यक्ष पदार्थों पर आधारित होता है। इसमें तर्क और तथ्यों की प्रक्रिया से किसी वस्तु या पदार्थ के अस्तित्व का बोध होता है। अतः प्रत्यक्ष पदार्थों पर आधारित तर्क और तथ्यों के द्वारा जिस प्रक्रिया से किसी वस्तु या पदार्थ के अस्तित्व का ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है। कहने का तात्पर्य है कि तर्क और तथ्यों के आधार पूर्व में घटित हुई घटना का ज्ञान करना अथवा किसी वस्तु या पदार्थ के अस्तित्व का ज्ञान करना अनुमान प्रमाण है। जैसे धुंए को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है क्योंकि अग्नि के बिना धुंआ संभव नहीं है। नदी के गंदे पानी के आधार पर या नदियों में आई बाढ़ के आधार पूर्व में भी हुई वर्षा का अनुमान लगाया जाता है क्योंकि वर्षा के बिना ऐसा संभव नहीं है। व्यक्ति के मुखमंडल को देखकर उसके भावों का अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि भावों के आधार व्यक्ति का व्यवहार होता है। अतः चित्त में इसी तरह का परिणाम होना अनुमान प्रमाण का ही परिचायक है। अनुमान प्रमाण भी तीन प्रकार के बताए गए हैं–पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतयोदृष्ट।

1. **पूर्ववत् अनुमान**–कारण को देखकर कार्य का अनुमान लगाना। जैसे बादलों को देखकर होने वाली वर्षा का अनुमान लगाना।
2. **शेषवत् अनुमान**–कार्य को देखकर कारण का अनुमान लगाना। जैसे नदी के मटमैले पानी को देखकर पूर्व में हुई वर्षा का अनुमान लगाना।
3. **सामान्यतयोदृष्ट**–विशेष रूप से न देखकर सामान्य रूप से देखना। जैसे घड़े को देखकर कुम्हार का अनुमान, सोने के आभूषणों को देखकर स्वर्णकार का अनुमान लगाना आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स. **आगम प्रमाण**–आगमों का संबंध आप्त पुरुषों की वाणी या सत्शास्त्रों से है। अतः आगमों (सत् शास्त्र) अथवा आप्त वचनों या विचारों को आगम प्रमाण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जो ज्ञान मानवीय इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत न हों और न ही जिसका अनुमान लगाया जा सकता है, उस ज्ञान को आगमों द्वारा ग्रहण करना आगम प्रमाण है। आप्त पुरुष को सम्यक् ज्ञान का स्रोत माना गया है। भले ही वह प्रत्यक्ष वाणी के रूप में हो अथवा सत्शास्त्रों के रूप में या ग्रंथों के रूप में। इसके लिए दो बातें आवश्यक मानी गई हैं। प्रथम है कि आगम पुरुष को स्वयं सम्यक् ज्ञान उपलब्ध हुआ और द्वितीय कि उसमें सही ढंग से सम्यक ज्ञान प्रदान करने की क्षमता हो। अतः आगम प्रमाण सामान्य मनुष्यों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत नहीं होते हैं आरै न ही इनका अनुमान लगाया जा सकता है। वह तो अतिसामान्य पुरुषों का ही ज्ञान है। यह प्रमाण सुनकर या स्वयं पढ़कर प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार श्रोता के चित्त में होने वाला परिणाम आगम प्रमाण का ही परिचायक है। आगम प्रमाण हजारों वर्ष पुराने हो सकते हैं लेकिन इनकी वैधता, इनकी महत्ता पर विश्वास किया जाता है। ऋषि–मुनियों ने अपनी साधना के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति की उसकी प्राप्ति आगमों के माध्यम से ही संभव है। वेद–पुराण, उपनिषद्, आगम, त्रिपिटक आदि इसके माध्यम हैं।

इन तीनों प्रमाणों से किसी न किसी रूप में सत्य की प्राप्ति होती है, संसार की असारता या नश्वरता का बोध होकर उसमें दुःख की अनुभूति होती है साथ ही उससे वैराग्य का भाव आकर योग साधना की ओर रुचि बढ़ती है तो यह वृत्ति अक्लिष्ट वृत्ति है। इसके विपरीत जब संसार के पदार्थों के प्रति नित्यता और राग की अनुभूति होती है साथ ही वैराग्य विरोधी भाव उत्पन्न होते हैं तब यह वृत्ति क्लिष्ट वृत्ति है। अतः इस दृष्टि से ये तीनों प्रमाण क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों ही वृत्तियों के लिए आधार हैं। कहने का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण के पीछे जिस तरह की वृत्ति जुड़ती है, परिणाम उसी तरह का होता है। अतः सत्य ज्ञान भी दुःखात्मक और सुखात्मक दोनों ही प्रकार का होता है।

2. **विपर्यय**– विपर्यय का अर्थ है असत्य ज्ञान, असम्यक् ज्ञान, विपरीत ज्ञान आदि। सूत्रकार ने कहा है– **विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्तद्रूपप्रतिष्ठम्** अर्थात् जो ज्ञान अपने वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता है, वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है। अतः जो ज्ञान किसी वस्तु या पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता है, उसका अवबोध नहीं कराता है, वह मिथ्याज्ञान या झूठाज्ञान है। इसके अंतर्गत जो विषय, वस्तु अथवा पदार्थ जिस अर्थ में, जिस रूप में अथवा वैसा नहीं है, वह उसके विपरीत प्रतीत होता है। साथ ही चित्त भी इसी आकार में परिणत हो जाता है। इस प्रकार विषय आदि के विपरीत अथवा भिन्न आकार में परिणत चित्तवृत्ति विपर्यय है। जैसे सीप में चांदी का ज्ञान, रस्सी में सांप का ज्ञान, चमकती रेत में पानी का ज्ञान, रात्रि में वृक्षों की छाया में भूतप्रेत आदि का ज्ञान, जड़ शरीर को आत्मा समझना आदि। इस ज्ञान के रहते एक नहीं वरन् अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। यह विपर्यय ज्ञान ही पंचक्लेशों का कारण भी माना गया है। जब विर्यय ज्ञान के स्थान पर विवेक ज्ञान होता है तो वृत्ति भी अक्लिष्ट बन जाती है।

3. **विकल्प**–विकल्प का अर्थ है निराधार विश्वास या कल्पना। विकल्प को परिभाषित करते हुए महर्ष पतंजलि ने लिखा है–**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** अर्थात् ऐसी वृत्ति जो शब्द और ज्ञान से अनुसार उभरती है और विषयगत वस्तु से भी शून्य हो, वह विकल्प है। दूसरे शब्दों में शब्द के आधार पर उत्पन्न वह ज्ञान जिसका विषय वास्तव में नहीं है, वह विकल्प है अथवा मात्र शब्द के आधार पर वास्तविकता की कल्पना करने वाली चित्तवृत्ति विकल्प है। इसे और भी सरल अर्थों में समझा जा सकता है कि निराधार विश्वास या कल्पना ही विकल्प है। कल्पना के पीछे भी आधार होता है पर कोई ठोस वस्तु नहीं होती है। अतः मात्र शब्दों के आधार पर ही विश्वास करना या कल्पना करना विपर्यय चित्त वृत्ति का परिचायक है। उदाहरण के लिए जैसे गधे के सींग, बांझ का पुत्र आदि शब्दों के आधार इसे सत्य मान लेना जो वास्तव में नहीं होता है। अतः इस तरह लिखी हुई, सुनी हुई, बोली हुई असत्य बात को सत्य मानना विकल्प के अंतर्गत ही आता है। हमारा मन विकल्प की सृष्टि करता है जिसमें अनुभवों का भी पुट होता है। उसके उपरांत भी व्यक्ति को सत्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। कभी–कभी ध्यान की प्रारंभिक अवस्था में साधक अनेक कल्पनाएं करता है या काल्पनिक लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। इससे विचारों की दुनिया में रमण तो अवश्य हो सकता है, मानसिक प्रसन्नता की अनुभूति भी हो सकती है पर वास्तविक सत्य की नहीं। उदाहरण के लिए दिवास्वप्न इसका उदाहरण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। यह भी सत्य है कि साधना की प्रारंभिक अवस्था में कल्पनाओं का भी सहारा लेना होता है ताकि मन एक विषय पर टिक सके और वह मानसिक एकाग्रता में इतना परिपक्व हो सके कि वह वास्तविक सत्य को स्पर्श कर सके। यह कल्पना सार्थक होती है, निरर्थक नहीं। अतः ऐसी कल्पनाओं का सहारा योग मार्ग में बाधक नहीं अपितु साधक ही बनता है। समस्या तब होती है जब कल्पनाओं का रूप लक्ष्य के विपरीत हो या निरर्थक हो।

अतः आधारवान कल्पना तो लक्ष्य प्राप्ति में सहायक बन सकती है पर आधारहीन कल्पना नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में आधारहीन कल्पना अर्थात् निरर्थक कल्पना करने से भले ही कुछ समय के लिए, कुछ सीमा तक सुखानुभूति तो अवश्यक हो सकती है पर वास्तविक सुखानुभूति नहीं, वास्तविक सत्य की नहीं। इसके विपरीत आधारवान कल्पना अर्थात् सार्थक कल्पना वास्तविक सुखानुभूति या वास्तविक सत्य की प्राप्ति में सहायक है। अतः निराधार कल्पना वाली वृत्ति चित्त की वह वृत्ति है जो उड़ानें भरता है, घमूता–फिरता है और अंततः अपने स्थान पर आकर बैठ जाता है। इस वृत्ति में समय लगता है, शक्ति लगती है पर परिणाम शून्य होता है। इस दृष्टि से यह वृत्ति क्लिष्ट वृत्ति है।

4. निद्रा–सूत्रकार का कहना है कि **अभावप्रत्ययालंबना वृर्त्तिनिद्रा।** अर्थात् अभाव का ज्ञान कराने वाली वृत्ति निद्रा है। अभाव न तो जाग्रत अवस्था है और न ही स्वप्नावस्था। अतः यह तमोगुण की अवस्था है। जाग्रत अवस्था में चित्त रजोगुण प्रधान रहता है और निद्रा अवस्था तमोगुण और रजोगुण प्रधान होती है। निद्रावस्था में तमोगुण ही सतोगुण तथा रजोगुण को दबाकर अपना कार्य करता है। ऐसे समय में चित्त अभाव की स्थिति में रहता है। जैसे सघन अंधकार होने से वहां उपस्थित किसी भी वस्तु को देखा नहीं जा सकता है, पहचाना नहीं जा सकता है, ठीक वैसे ही तमोगुण की अवस्था में भी चित्त की सारी वृत्तियां स्थिर रहती है। फिर भी रजोगुण कुछ मात्रा में अवश्य ही उपस्थित रहता है। इसके बावजूद भी वह अभाव की ही प्रतीति अथवा ज्ञान कराता है। अर्थात् सघन निद्रावस्था में व्यक्ति को कुछ भी स्मृति नहीं होती है क्योंकि उस समय बाह्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता है और न ही मन क्रियाशील रहता है। इसलिए मन न सोचता है, न विचारता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है और न ही स्वाद लेता है। अर्थात् मन इंद्रियों के साथ से पृथक हो जाता है, अस्तित्वहीन हो जाता है।

5. स्मृति–स्मृति को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है–**अनुभूतविषयाअसंप्रमोषः स्मृतिः।** अनुभूत वस्तु के तदाकार चित्त का परिणाम स्मृति है। अर्थात् अनुभूत की गई वस्तु का उसी रूप में चित्त में प्रगट होना स्मृति है। दूसरे शब्दों में अनुभूत की गई वस्तु या विषय का चित्त से न हटना स्मृति है। पांच इंद्रियां ज्ञान का माध्यम हैं। उनके द्वारा भिन्न–भिन्न विषय का ज्ञान होता है। साथ ही यह ज्ञान किसी भी वृत्ति में हो सकता है चाहे वह प्रमाण हो, विपर्यय हो, विकल्प हो या निद्रा हो या स्वप्न हो। इस ज्ञान के चित्त पर संस्कार पड़ते हैं। यही संस्कार स्मृति का माध्यम बनते हैं। स्मृति अनुभव किए वस्तु से या तो कम हो सकती है अथवा अधिक हो सकती है लेकिन बराबर नहीं हो सकती है। स्मृति के भी दो भेद हैं क्लिष्ट और अक्लिष्ट। जिस स्मृति से व्यक्ति में भोग–विलास की ओर उन्मुखता बढ़े, पदार्थों के प्रति आसक्ति बढ़े, प्रतिबद्धता बढ़े अर्थात् असम्यक् ज्ञान बढ़े, वह वृत्ति क्लिष्ट वृत्ति है। इसके विपरीत जिस स्मृति से वैरागय भाव में वृद्धि हो अर्थात् पदार्थों से अनासक्ति बढ़े, सद्मार्ग तथा सदाचार की ओर उन्मुखता हो, उस ओर श्रद्धा, समर्पण और विश्वास हो, उत्साह और आत्मबल में वृद्धि हो अर्थात् सम्यक् ज्ञान हो वह वृत्ति अक्लिष्ट वृत्ति है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि वृत्तियां शांत और अशांत, सुखकारी और दुःखकारी, क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो रूपों में अपना अस्तित्व रखती हैं। जिस समय चित्त में जैसी वृत्ति होती है चित्त को अपने अनुसार परिवर्तित कर देती हैं तत्पश्चात् व्यक्ति का व्यवहार भी उसी रूप में हो जाता है। इन वृत्तियों का स्वभाव चंचल है। चंचलता की अवस्था में अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। योग का अंतिम लक्ष्य है आत्म साक्षात्कार, मोक्ष की प्राप्ति। उसके लिए आवश्यक है कि इन वृत्तियों पर नियंत्रण साधा जाए, इन्हें वश में किया जाए इनका मार्गांतरीकरण किया जाए अर्थात् इनकी दिशा को बदला जाए। अतः योग के मार्ग में वृत्तियों के निरोध की बात आती है। निरोध के बाद ही वृत्तियों को शांत कर स्व स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। निरोध भी सरल कार्य नहीं है। लंबे समय से अभ्यस्त चंचल या अशांत ये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वृत्तियां अपने स्वभाव को सरलता से नहीं छोड़ सकती हैं। इसके लिए सूत्रकार ने वृत्ति निरोध के साधनों की चर्चा की है जिनका विवरण निम्न प्रकार है–

2.3 वृत्ति निरोध के साधन

किसी भी समस्या के समाधान के लिए उसके उपाय या साधन होने आवश्यक हैं। योग साधना के अंतर्गत भी चित्त वृत्तियों को शांत करने हेतु साधन निश्चित किए हैं जिसका उपयोग कर योग की अंतिम अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। अतः निरोध के साधन निम्न हैं–

2.3.1 अभ्यास और वैराग्य

वृत्तियों को निर्मल बनाने हेतु महर्षि पतंजलि ने अभ्यास और वैराग्य को महत्वपूर्ण माना है। चित्त की वृत्तियां ही साधक को अपने मार्ग से विमुख करती हैं। अर्थात् ये साधक को बहिर्मुखी बनाती हैं। साधना के लिए आवश्यक है कि साधक साधनाकाल में अभ्यास और वैराग्य पर विशेष ध्यान दे। पतंजलि वृत्तियों के निरोध हेतु अभ्यास और वैराग्य को निरूपित कर कहते हैं–**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** –अभ्यास और वैराग्य द्वारा इन वृत्तियों का निरोध होता है। अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियां जो उसे अपने मार्ग से विचलित करती हैं, उन्हें रोका जा सकता है, नियंत्रित किया जा सकता है। चित्त मलिन होने पर वह अस्थिर रहता है जिससे उसमें अनेक प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। अतः चित्त का प्रवाह भीतर की ओर न होकर बाहर की ओर होता है अथवा निष्क्रिय रहता है। अर्थात् वह अपने मूल स्वरूप से भटक जाता है। अभ्यास और वैराग्य चित्त के प्रवाह को अंतर्मुखी बनाने में सहायक होता है। साधना काल में रजोगुण तथा तमोगुण की अधिकता साधक के लिए बाधक बनते हैं। रजोगुण के प्रभाव से साधक का चित्त चंचल रहता है जिससे मानसिक एकाग्रता का अभाव होता है। मानसिक एकाग्रता के बिना साधना संभव ही नहीं हो सकती है। इसी प्रकार तमोगुण के प्रभाव के कारण साधक में निराशा, अनुत्साह, आलस्य आदि बाधक तत्त्व उपस्थित होते हैं। अतः ये राजसिक और तामसिक वृत्तियां साधना की प्रबल शत्रु हैं। अर्थात् इनकी उपस्थिति साधना के लिए बाधक ही सिद्ध होती है। यदि व्यावहारिक जीवन में भी इस प्रकार की वृत्तियां व्यक्ति में होती हैं तो वह व्यक्ति अपने जीवन में सफलता से कोशों दूर रहता है। साधना का क्षेत्र तो और भी जटिल है। अतः इसमें चित्त की सूक्ष्मता ही साधक को अपने लक्ष्य तब पहुंचाने में सहायक हो सकती है। इस प्रकार पतंजलि ने अभ्यास और वैराग्य को वृत्तियों के निरोध का उपाय बताकर साधकों का मार्गदर्शन किया है।

वेदव्यास जी ने अभ्यास और वैराग्य को रूपक द्वारा वर्णित किया है जो इस प्रकार है–

चित्त एक नदी है जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इस नदी के दो धाराएं है । एक तो संसार सागर की ओर बहती है तो दूसरी कल्याण सागर की ओर। जिन व्यक्तियों ने पूर्व जन्म में सांसारिक विषयों के भोगार्थ कर्म किए हैं, उन संस्कारों के कारण ही उनकी वृत्तियों की धारा विषय मार्ग से बहती हुई संसार सागर में मिलती है। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों ने पूर्व जन्म में कैवल्यार्थ कर्म किए हैं, उन संस्कारों के कारण उनकी वृत्तियों की धारा विवेक मार्ग से कल्याण मार्ग में मिलती है। संसारी लोगों की प्रथम धारा तो जन्म के साथ ही खुलती है और द्वितीय धारा को शास्त्र, गुरु, आचार्य तथा ईश्वर चिंतन खोलते हैं। प्रथम धारा के मार्ग को बंद करने हेतु विषयों के श्रोत पर वैराग्य का बांध लगाया जाता है और अभ्यास के बेलचे से द्वितीय धारा का मार्ग खोदकर वृत्तियों के समग्र प्रवाह को विवेक श्रोत में डाल दिया जाता है। तत्पश्चात् प्रबल वेग से सारा प्रवाह कल्याण रूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। इस प्रकार अभ्यास तथा वैराग्य दोनों ही संयुक्त रूप से वृत्तियों का निरोध करते हैं।

अभ्यास और वैराग्य को और अधिक स्पष्टता से भिन्न–भिन्न रूप में समझना भी आवश्यक होगा जिसका विवरण निम्न प्रकार है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. **अभ्यास**–अभ्यास का अर्थ है बार–बार करना, बार–बार दुहराना। –इसे पतंजलि ने स्पष्ट किया है– **तत्र स्थितौ यत्नोअभ्यासः।** उन दोंनों (अभ्यास और वैराग्य) से चित्त की स्थिति में यत्न करना अभ्यास है। अर्थात् चित्त की वृत्ति रहित शांत स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास अभ्यास है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए पूर्ण सामर्थ्य और उत्साह के साथ प्रयत्न करना आवश्यक माना गया है। यों तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निपुणता के लिए अभ्यास ही आवश्यक है। अतः किसी कार्य में निपुण बनने के लिए उस कार्य को बार–बार किए बिना वह व्यवहार का अंग नहीं बन सकता है। कहा भी गया है कि करत–करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान अर्थात् अभ्यास के द्वारा मूर्ख भी विद्वान बन जाता है। बच्चा बार–बार गिरता है । फिर भी वह चलना नहीं छोड़ता है, अभ्यास जारी रहता है। इसी का परिणाम होता है कि एक दिन बिना किसी सहारे के वह चलने लगता है और उसमें निपुण बन जाता है। इसके अतिरिक्त भी जीवन में कलात्मकता लाने के लिए अभ्यास ही आवश्यक है। इसी से कार्यसिद्धि होती है। इसके उदाहरण एक नहीं, अनेक हैं। अतः यह सत्य है कि अभ्यास किसी भी कार्य को सरल बना देता है। इसी प्रकार साधना का मार्ग जो अदृश्य जगत का खेल है, अभ्यास के बिना खेला ही नहीं जा सकता है और न ही इसमें निपुणता प्राप्त की जा सकती है। अदृश्य जगत् को जानने के लिए चित्त की सूक्ष्मता अर्थात् चित्त की एकाग्रता महत्त्वपूर्ण है। जैसे–जैसे चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, रहस्यों का उद्घाटन होता जाता है जिससे साधक अपनी साधना की चरमोत्कर्ष स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अतः अभ्यास इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

यह अभ्यास कितना किया जाए, कैसे किया जाए जिससे यह दृढ़भूमि वाला अर्थात् परिपक्व बनकर साधक को अपने मार्ग में आगे बढ़ा सके, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक बन सके–इस विषय में पतंजलि जी कहते हैं कि –**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः।** वह अभ्यास दीर्घकाल तक निरंतर सत्कार के साथ सेवन करने से दृढ़भूमि वाला होता है। अर्थात् अभ्यास को लंबे समय तक निरंतर सद्भावनाओं के साथ करने से वह परिपक्व बनता है। इस सूत्र के अंतर्गत तीन महत्त्वपूर्ण बातें कहीं गई हैं–अभ्यास की दीर्घकालिकता, निरंतरता एवं सत्कार सेविता।

अ. **अभ्यास की दीर्घकालिकता**–अभ्यास की दीर्घकालिकता का अर्थ है कि अभ्यास दीर्घकाल (लंबा समय) तक करना चाहिए। दीर्घकाल का मतलब 10, 20 अथवा इससे अधिक वर्ष का निश्चित नहीं किया गया है क्योंकि दीर्घकाल का समय प्रत्येक साधक के लिए भिन्न–भिन्न हो सकता है। यह साधक की प्रकृति, उसकी क्षमता, उसकी योग्यता, उसकी रुचि आदि पर निर्भर करता है। साधक अनेक चित्त भूमियों वाला होता है। उसके संस्कार भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। पूर्व जन्म के संस्कार, वर्तमान काल के कर्म, भविष्य के लिए लक्ष्य के साथ ही आस्था, लगन, दृढ़ इच्छा, समर्पण, मानसिक एकाग्रता, वैराग्य भाव आदि ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जो प्रत्येक साधक के लिए दीर्घकालिकता की अवधि को भिन्न–भिन्न प्रकट करती हैं। किसी साधक के पूर्व जन्म के संस्कार जटिल हैं तब भी साधनाकाल की अवधि दीर्घ हो सकती है क्योंकि एक अथवा अनेक जन्मों के जटिल संस्कारों को निर्बल बनाने, दग्ध करने अथवा नष्ट करने हेतु अधिक समय की आवश्यकता हो सकती है। इसी प्रकार पूर्व जन्मों के संस्कारों के निर्बल होने से साधना काल की अवधि स्वतः ही कम हो जाती है। वर्तमान में संपादित होने वाले कर्मों के दिशा रूपांतरण से भी दीर्घकाल की अवधि को कम किया जा सकता है साथ ही एक लक्ष्य निर्धारित करने से भी शारीरिक और मानसिक क्रियाएं उस लक्ष्य प्राप्ति की ओर ही उन्मुख होती है। इसके अतिरिक्त भी साधना के प्रति समर्पण भाव और उस क्षेत्र में पुरुषार्थ साधक को कम समय में भी समाधि लाभ देने में सहायक होते हैं। अतः शीघ्र समाधि लाभ न होने पर भी साधक को निराश न होकर धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास करते रहना चाहिए।

ब. **निरतंरता**–निरंतरता का अर्थ है लगातार। अर्थात् अभ्यास को निरंतर, लगातार करना चाहिए। तात्पर्य है कि अभ्यास बिना किसी रुकावट के, बिना किसी अंतराल के निरंतर अर्थात् प्रतिदिन करना चाहिए। दो दिन करने के बाद छोड़ देना फिर पुनः कुछ दिन अभ्यास करना, दो माह करना फिर बीच में अंतराल देकर पुनः अभ्यास करना–यह साधना की निरंतरता नहीं कही जा सकती है। निरंतरता के अंतर्गत साधना को प्रतिदिन करना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चाहिए। अर्थात् व्यवधान रहित करना चाहिए। निरंतरता के अभ्यास में साधना का क्रम छूट जाता है जिससे चित्त अपनी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता है। व्यवधान सहित किया हुआ अभ्यास अथवा अभ्यास की निरंतरता के बिना किया हुआ अभ्यास दृढ़भूमि वाला नहीं बन पाता है। अतः अभ्यास की परिपक्वता इसकी निरंतरता पर निर्भर करती है।

स. **सत्कार सेविता**–सत्कार सेविता का अर्थ है कि सम्मान पूर्वक, आदर पूर्वक, श्रद्धापूर्वक आदि। जब तक किसी कार्य के प्रति सद्भाव ही न हो तो उस कार्य में कुशलता आना भी संभव नहीं है। कुशलता के बिना परिणाम मिलना भी असंभव है। कहने का तात्पर्य है कि सामान्य कार्य हो अथवा विशिष्ट कार्य, बिना सत्कार के मनचाहा परिणाम प्राप्त नहीं किया जा सकता है। फिर साधना का मार्ग तो और भी जटिल है, दुरूह है, अनभिज्ञ है। ऐसे में उस मार्ग के प्रति सत्कार सेविता साधक को अपने लक्ष्य तक पहुंचाने में सहायक होती है। अभ्यास की सत्कार सेविता के लिए भी अनेक बातें निर्भर करती हैं। अतः साधना के लिए पूर्ण मनोयोग से क्रिया करनी चाहिए। जैसे ब्रह्मचर्य का पालन, उत्साह, सदाचरण, भक्तिभाव आदि। इनके द्वारा किया हुआ अनुष्ठान साधक को लक्ष्य की ओर प्रवृत्त करता है। ईश्वर का स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन, उस मार्ग की बाधाएं, उन्हें दूर करने के उपाय तथा प्रक्रिया आदि के प्रति जागरूकता रखना लक्ष्य प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। साधना काल में साधक के समक्ष अनेक अनुकूलताएं एवं प्रतिकूलताएं उपस्थित होती हैं। जैसे–सुख–दुःख, लाभ–हानि, मान–अपमान आदि। इन परिस्थितियों में साधक उलझ जाता है तो आगे बढ़ना आसान नहीं हो पाता है। अतः साधक को इन परिस्थितियों में मन, वचन एवं कर्म की एकरूपता को बनाए रखकर शांत भाव से श्रद्धापूर्वक क्रिया करनी चाहिए। इन्द्रिय भोगों के विषयों में आसक्त होकर साधना करना सत्कार सेविता के अंतर्गत नहीं आता है। प्रत्येक भोग को भोगने पर और कई वासनाएं उपस्थित होती रहती हैं। अतः साधक के लिए इन भोगों में आसक्त रहने का निर्देश नहीं मिलता है। योग का अभ्यास लोकैषणा हेतु नहीं अपितु आत्मोत्थान हेतु किया जाता है। इसलिए साधक को अपना मुख्य कर्तव्य समझकर सत्कारपूर्वक अभ्यास करना चाहिए जिससे वह दृढ़भूमि वाला बन सके।

2. वैराग्य– वैराग्य का अर्थ है विराग अर्थात् राग का न होना, आसक्ति का न होना। इसे भी सूत्रकार ने स्पष्ट किया है–**द्रष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्** –दृष्ट और अनुश्रविक विषयों में जिसे कोई तृष्णा नहीं है, वह वशीकार नाम वाला वैराग्य है। अर्थात् दृष्ट और अनुश्रविक विषयों में तृष्णा (इच्छा) का समाप्त होना वशीकार नाम वाला अथवा अपर वैराग्य है। दृष्ट विषय का अर्थ है देखा हुआ विषय और अनुश्रविक विषय का अर्थ है सुना हुआ विषय। दृष्ट विषयों का संबंध इंद्रियों से है। इंद्रियों के माधम से भीतर पहुंचे हुए समस्त अनुभव दृष्ट कहलाते हैं। इनमें रूप, रस, गंध आदि सम्मिलित हैं। या तो किसी पदार्थ को देखा जा सकता है या उसे इंद्रियों के द्वारा अनुभव किया जा सकता है। अनुश्रविक विषय वे विषय है जिन्हें व्यक्ति ने सुना तो है पर उसका अनुभव नहीं किया है। जैसे दिव्य गंध, दिव्य रस, स्वर्गलोक, प्रकृतिलय, सिद्धियां, आत्मा–परमात्मा का अनुभव। इन्हें या तो सुना होता है या पढ़ा होता है। इन दोनों विषयों के प्रति राग का समाप्त हो जाना, इच्छा का समाप्त होना या तृष्णा का समाप्त हो जाना ही वैराग्य है। इस अवस्था में साधक को भोगे हुए विषयों से तृष्णा समाप्त हो जाती है। उसका अपनी इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण हो जाता है। अर्थात् सभी भोग्य विषयों की तृष्णा को वह अपने वश में कर लेता है। यही वशीकरण की अनुभूति अपर वैराग्य है।

वैराग्य किसी विषय का त्याग कर देना मात्र ही नहीं है वरन् विषय को अनासक्ति पूर्वक छोड़ना वैराग्य है। आसक्तिपूर्ण वाले विषय साधना में बाधक होते हैं। अतः इनको त्यागना ही साधक के लिए श्रेयस्कर होता है। त्याग कई कारणों से किया जाता है। जैसे वस्तु के अप्राप्य अथवा न मिलने पर त्याग करना, रुचि के न होने पर त्याग करना जैसा कि रोग के दौरान हो सकता है, अनिच्छा से त्याग करना, सामाजिक बंधनों से त्याग करना जैसे भय, लोकलाज आदि, अहंकार, क्रोध, आग्रह अथवा अन्य प्रवृत्तियों के कारण त्याग करना वास्तव में वैराग्य नहीं होता है। इस प्रकार किए हुए त्याग में भीतर से तृष्णा समाप्त हो गई हो, ऐसा पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता है। ऐसे त्याग में बाहर भले ही वैराग्य प्रकट

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हो लेकिन भीतर में सूक्ष्म रूप से तृष्णा का भाव बना रहता है। यह वैराग्य नहीं है। वैराग्य में तो शुद्ध भाव होता है, विषयों के प्रति शुद्ध अनासक्ति होती है। उपरोक्त सूत्र में सूत्रकार ने विषयों में तृष्णा रहित वैराग्य को ही वैराग्य की कोटि में रखा है। साधना की परिपक्वता से दिव्य और अदिव्य विषयों की उपस्थिति या उनका अनुभव भी साधक के लिए अवरुद्ध नहीं बनता है। साधक की अपनी तृष्णा पर नियंत्रण होने से वह इन इंद्रिय विषयों से आसक्त नहीं होता है। इस वैराग्य को अपर या निम्न वैराग्य भी कहा गया है। इस अपर वैराग्य की फलश्रुति संप्रज्ञात समाधि है।

अपर या निम्न वैराग्य के पश्चात् पर वैराग्य या उच्च वैराग्य को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि–**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्** –पुरुष के ज्ञान से प्रकृति के गुणों से पूर्णतया तृष्णा रहित होना पर वैराग्य है। जब साधक दिव्य और अदिव्य विषयों दोषयुक्त समझकर उनसे विरक्त हो जाता है तो यह अवस्था उच्च वैराग्य की होती है। इसमें इंद्रिय विषयों के प्रति सूक्ष्मता से होने वाला आकर्षण भी समाप्त हो जाता है। तमोगुण और रजोगुण से उत्पन्न कामनाओं, इच्छाओं आदि का तो त्याग हो ही जाता है अंततः उस सतोगुण को भी छोड़ दिया जाता है जो मानसिक प्रसन्नता का अनुभव कराते हैं। अतः संप्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा विवेकख्याति है जो स्वयं में उच्च है। इसमें पुरुष और चित्त की भिन्नता का स्पष्ट बोध होता है। अर्थात् इस अवस्था में आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह अवस्था भी सत्वगुण प्रधान होती है जो चित्त का ही कार्य है। अतः इस अवस्था में राग का न रहना पर वैराग्य है। इस अवस्था में साधक यह सोचने लगता है कि जो प्राप्त करना था, उसे प्राप्त कर लिया, जो छोड़ना था, उसे छोड़ दिया आदि। पर वैराग्य की फलश्रुति असंप्रज्ञात समाधि है। इसे धर्म मेघ समाधि भी कहा जा सकता है। जैसे बादल पानी से पहाड़ को धो डालते हैं, उसे स्वच्छ कर देते हैं उसी प्रकार धर्ममेघ सामाधि अर्थात् शुद्ध चेतना की अनुभूति सारी इच्छाओं को धो देती है, वह स्वयं में प्रतिष्ठित हो जाती है।

विद्वानों ने वैराग्य के चार प्रकार बताए हैं–

a) **यतमान**–जब व्यक्ति विषयों के प्रति आसक्ति तो रखता है पर दूषित परिणामों पर विचार करने पर उनके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने लगता है तो वह अवस्था यतमान कहलाती है।
b) **व्यतिरेक** भोगे हुए विषयों को व्यर्थ मानकर उनकी व्यर्थता में संतोष कर लेना या उन्हें ही इतिश्री मान लेना व्यतिरेक है।
c) **एकेन्द्रिय**–परिस्थितियों के कारण इंद्रियों की शिथिलता हो जाने पर, विषयों के न मिलने पर या अन्य कारणों से विषयों के प्रति अनासक्ति का होना एकेन्द्रिय वैराग्य है।
d) **वशीकार**–दिव्य–अदिव्य विषयों के प्रति पूर्णतया अनासक्ति का होना वशीकार या अपर वैराग्य है।

इनके अतिरिक्त भी पूर्ण वैराग्य की अवस्था उसे कहा गया है जिसमें आसक्ति के संस्कारों का भी पूर्ण विलय हो जाता है। वह अवस्था पर वैराग्य अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि है

अतः उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अभ्यास और वैराग्य से वृत्तियों को वश में कर योग की उच्च अवस्थाओं को अथवा समाधि को प्राप्त किया जा सकता है।

2.4 ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर वह परम सत्ता है जो सर्वोच्च है, सर्व व्यापक है, सर्वज्ञानी है और सर्व शक्तिमान है। सांख्यदर्शन की मान्यता है कि इस ब्रह्मांड में पुरुष तो अनेक हैं पर ईश्वर एक ही है क्योंकि वह सबसे श्रेष्ठ होता है। वह पुरुषों का भी पुरुष है। जैसे प्रजा में राजा का महत्त्व सर्वोपरि है वैसे ही पुरुषों में ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि समस्त बंधनों से मुक्त है, स्वतंत्र है, निर्विकारी है, सर्वगुण संपन्न है। सूत्रकार ने ईश्वर के स्वरूप को निम्न प्रकार स्पष्ट किया है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1) **क्लेशादि से मुक्त**–पुरुष क्लेशादि बंधनों से मुक्त है–**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।** क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अछूता तथा विशिष्ट चेतन तत्त्व पुरुष को ईश्वर कहते हैं। अर्थात् जो पुरुष क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से असंबद्ध है, विरत है, वह ईश्वर है। उस तत्त्व पर इन चारों को काई प्रभाव नहीं पड़ता है।

अ. क्लेश–आंतरिक पीड़ा या दुःखों को क्लेश कहा गया है जो पांच प्रकार के हैं–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन क्लेशों के कारण अनेक वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, पुनः व्यक्ति सुख नहीं वरन् दुःख को ही प्राप्त करता है।

ब. कर्म–इन क्लेशों से शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्म होते रहते हैं। अर्थात् क्लेशों के कारण जैसा व्यवहार होगा, वही कर्म है।

स. विपाक–परिपक्व कर्म विपाक कहलाते हैं। अर्थात् कर्मों के परिपक्व हो जाने पर वे अपना फल देने में सक्षम हो जाते हैं और वे सुख–दुःख, जाति आयु और भोग आदि के रूप में प्राप्त होते हैं।

द. आशय– फल पकने तक चित्त में पड़े संस्कारों को आशय कहा जाता है। अर्थात् फल बीज रूप में तो होते हैं पर फल देने में सक्षम नहीं हो पाए हैं। वे प्रसुप्तवस्था में पड़े रहते हैं। अतः वे ही कर्माशय हैं।

उपरोक्त चारों से तीनों कालों में लेशमात्र भी संबंध न रखने वाला चेतन पुरुष ईश्वर है। अर्थात् वह अन्य पुरुषों से भिन्न है। सामान्य जीवात्मा इन चार प्रकार के पाशों से बंधी रहती है। अतः वह बद्ध है। पुरुष तत्त्व इन चार पाशों से सर्वदा मुक्त है। न कभी वह इनसे बंधा था, न बंधा है और न ही बंधा रहेगा। अतः वह सर्वदा मुक्त था, मुक्त है और मुक्त रहेगा।

2) **सर्वज्ञ है**–सर्वज्ञ का अर्थ है जो सब कुछ जानता हो, जो किसी भी ज्ञान से अछूता नहीं हो। वह पुरुष तत्त्व सर्वज्ञ है। वह सब कुछ जानता है, भूत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञान से वह आच्छादित है। उसकी सर्वज्ञता के पीछे निहित तत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि **तत्र निरतिशयं सर्वबीजम्**– इस ई"वर में सर्वज्ञता का बीज अति"ाय रहित है। अर्थात् उस ई"वर में सर्वज्ञता का बीज सर्वोच्च है। न तो उसके बराबर किसी को ज्ञान था, न है और न ही उससे अधिक होगा। अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा वाला पुरुष ई"वर है। इसलिए वह सर्वोच्च है। संसार में जो ज्ञान–विज्ञान है, धर्म है, वैराग्य है, विभूतियां, ऐश्वर्य आदि हैं, उनकी एक पराकष्ठा है, सीमा है लेकिन इस तत्त्व में इनकी कोई पराकाष्ठा नहीं है, कोई सीमा नहीं है अर्थात् असीमित है। अपनी इसी वि"ोषता के कारण वह सर्वज्ञ है।

3) **जगद्गुरु है**– गुरु का अर्थ है अंधकार को दूर करने वाला, प्रकाश को देने वाला, ज्ञान को देने वाला आदि। ईश्वर तत्त्व तो जगद्गुरु गुरु है। **पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**– पूर्वजों का भी वह गुरु है क्योंकि वह काल से अविछिन्न है। अर्थात् वह ई"वर पूर्व में उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकों का भी उपदेष्टा है क्योंकि वह काल से परिमित नहीं है, काल से बंधा हुआ नहीं है। वह सभी कालों में विद्यमान है। ऐसा माना गया है कि ब्रह्मा आदि सृष्टि से पूर्व और महाप्रलय के प"चात् उत्पत्ति और विना"ा"ील होने के कारण काल परिछिन्न हैं लेकिन ई"वर सदैव सब कालों में विद्यमान रहता है। अर्थात् काल का प्रभाव भी उस तत्त्व पर नहीं पड़ता है। न ही संसार के किसी भी परिवर्तन से ही वह प्रभावित है। कहने का तात्पर्य है प्रकृति में होने वाले विभिन्न परिर्वतनों से भी वह अप्रभावित है।

4) **प्रणव है**–ईश्वर का वाचक (नाम) प्रणव है अर्थात् वह प्रणव है। **तस्य वाचकः प्रणवः** –उस ई"वर का वाचक प्रणव है। अर्थात् उस ई"वर का वाचक बोध प्रणव (ऊं) है। ई"वर वाच्य है और प्रणव उसका वाचक है। इन दोनों में अनादि संबंध बताया गया है और यह परमे"वर का मुख्य नाम है। इस शब्द से उसके व्यापक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्वरूप का विस्तार से वर्णन होता है। यह नाम छोटा होने के कारण साधना काल में उच्चारण करने में सरल है। अतः इस प्रणव शब्द में ई"वर का स्वरूप परिलक्षित हो जाता है।

5) **ईश्वर प्राप्ति का साधन**–ईश्वर प्राप्ति सरल कार्य नहीं वरन् पुरुषार्थ साध्य है। अतः जो पुरुषार्थ करता है, वह सफल भी होता है। सूत्रकार ने समाधान में बताया है कि– **तज्जपस्तदर्थभावनम्** –उस प्रणव का जप तथा उसके अर्थ स्वरूप परमात्मा का चिंतन करने से समाधि लाभ होता है। अर्थात् प्रणव का जप और उसके अर्थ स्वरूप परमात्मा का बार–बार चिंतन करना समाधि लाभ में उपयोगी बनता है। अतः इसके जप और चिंतन को योग का सर्व प्रमुख और सर्वश्रेष्ठ साधन कहा है। प्रणव शब्द के साथ ही उसके अर्थ का भी बोध होना चाहिए। बिना अर्थ के किया हुआ जप अधिक फलदायी नहीं होता है। यदि प्रणव के जप के साथ ही उसका स्वरूप भी प्रतिबिंबित हो तभी समाधि की स्थिति प्राप्त हो सकेगी। ई"वर के स्वरूप का ज्ञान चित्त को सब विषयों से हटाता है साथ ही अनेक संस्कारों का निरसन भी होता रहता है। तब अनेक बंधनों से मुक्ति मिलती है, सात्विक संस्कारों का उदय होता है और इसके बार–बार अभ्यास से साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

6) **ईश्वर साधना का परिणाम**– ईश्वर साधना का परिणाम है– **ततःप्रत्यक्चेतनाधिगमोअप्यन्तरायाभावश्च**–उस ई"वर साधना से अंतरात्मा के स्वरूप का ज्ञान और अंतरायों का अभाव होता है। अर्थात् ई"वर साधना से जीवात्मा का साक्षात्कार होता है साथ ही विघ्न–बाधाओं का अभाव भी होता है। साधनाकाल में अनेक प्रकार के विघ्न साधकों को प्रभावित करते हैं। ई"वर साधना इन विघ्नों को दूर करने में सहायक होता है जिससे साधक आत्म साक्षात्कार, ई"वर साक्षात्कार का लाभ प्राप्त कर सकता है। साधना काल में साधक परमात्मा के जिन गुणों का ध्यान करता है, उनका चिंतन, मनन करता है, वे गुण उसके भीतर समावेशित होने लगते हैं। ईश्वर के निर्विकारी स्वरूप के ज्ञान से वह स्वयं को भी उसी रूप में पाता है। अतः क्लेशादि जितने भी विकार है, उनका भी धीर–धीरे निरसन होने लगता है। इस स्थिति में विघ्न–बाधाएं भी नहीं आती हैं और यदि आ भी जाएं तो वे अधिक प्रभावित भी नहीं कर सकती हैं। अतः ईश्वर साधना भले ही किसी भी रूप में हो, उसी के अनुरूप गुणों के विकास में और विघ्नों या अंतरायों के समाधान में सहायक है।

2.5 योगांतराय (योग के विघ्न)

साधना काल में एक नहीं अनेक विघ्न उत्पन्न होते है। इनके रहते हुए साधक का चित्त एकाग्र नहीं रह पाता है जिससे वह आगे नहीं बढ़ पाता है। अतः इन विघ्नों को जानना भी आवश्यक हो जाता है। ये विघ्न निम्न हैं–

व्याधिस्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेअन्तरायाः।

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अन्वस्थितत्व– ये चित्त के विघ्न हैं। चित्त के नौ विघ्न निम्न प्रकार हैं–

1. व्याधि–व्याधि के अर्थ है शारीरिक रोग। धातु, रस और करण की विषमता से उत्पन्न होने वाले रोग व्याधि के अंतर्गत आते हैं। धातुएं सात प्रकार की बताई गई हैं–रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि एवं शुक्र। वात, पित्त और कफ तीन दोष हैं। भोजन से प्राप्त होने वाला सार रस कहलाता है तथा इंद्रियों का सही प्रकार से कार्य न करना करण कहलाता है। जैसे कान से कम सुनाई देना, आंख से कम दिखाई देना आदि। साधना के लिए शारीरिक स्वस्थता महत्त्वपूर्ण है। कहा भी गया है कि पहला सुख निरोगी काया। जब शरीर स्वस्थ है तो मन भी स्वतः शांत रह सकेगा। शरीर में कोई भी कष्ट होने पर मन स्वतः ही विचलित हो जाता है। जैसे अस्थि संबंधी रोग, पाचन तंत्र के रोग, श्वसन तंत्र के रोग, मांसपेशीय रोग अथवा अन्य तंत्रों से संबंधित रोग या मधुमेह, रक्ताल्पता, कमर दर्द, सिर दर्द, फोड़े–फुंसी, घाव, आदि दृश्य रोग मन की भी अशांति और अप्रसन्नता का कारण बनते हैं। शरीर के महत्त्व को साधना की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दृष्टि से और भी स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि शरीर ही साधना का माध्यम है। अतः शरीर की स्वस्थता साधना के लिए आवश्यक है। शरीर के स्वस्थ रहने से साधक का शरीर और मन दोनों ही सहायक बनते हैं शरीर के अस्वस्थ रहने पर नहीं। इसलिए व्याधि को अर्थात् शारीरिक रोग को साधना मार्ग में विघ्न बताया है।

2. स्त्यान–स्त्यान का अर्थ है चित्त की अकर्मण्यता। अर्थात् सामर्थ्य होने पर भी योग साधना के प्रति अरुचि होना, अप्रतीति होना। प्रत्येक व्यक्ति अनेक चित्त भूमियों वाला होता है। शरीर से स्वस्थ रहने के पश्चात् भी कोई व्यक्ति पुरुषार्थहीन होते हैं। पुरुषार्थ के अभाव में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है। साधना काल में भी यही बात लागू होती है। चित्त की एकाग्रता हेतु, आत्मसाक्षात्कार हेतु, उच्चस्तरीय शक्ति के साथ मिलन हेतु पुरुषार्थ महत्त्वपूर्ण है। अकर्मण्यता के रहते हुए साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः साधना के पथ में अकर्मण्यता बाधक है।

3. संशय–संशय का अर्थ है संदेह का होना, आशंका का होना, एक विषय में परस्पर दो विरोधी ज्ञान का होना। जैसे सत्य है या असत्य, आत्मा का अस्तित्व है कि नहीं है, ईश्वर की सत्ता है कि नहीं है आदि। इस प्रकार के दो विरोधी बातें चित्त को अस्थिर कर देती हैं। संशय के रहते हुए साधक सही निर्णय नहीं ले पाता है जिससे वह साधना का लाभ नहीं उठा पाता है। साधना का पथ लंबा होता है, कठिन होता है। हर व्यक्ति वहां तक नहीं पहुंच सकता है। इसमें कई बातें लागू होती हैं जिनमें संशय एक है। साधना संबंधी संशय, स्वयं संबंधी संशय तथा परिस्थियों से संबंधित संशय प्रमुख हैं। साधना में ही संशय करना, उसकी उच्च भूमिकाओं में संशय करना, उसके परिणामों पर संशय करना आदि, स्वयं पर संशय करना जिनमें अपनी योग्यता, अपनी क्षमता, अपने विश्वास, अपने मनोबल, अपने पुरुषार्थ पर संशय करना आदि अनेक कारण हैं। परिस्थितियों पर संशय करना, उनकी अनुकूलता–प्रतिकूलता आदि पर संशय करना जो साधक को अपने पथ से विचलित करने में अपनी भूमिका अदा करते हैं। अतः संशय किसी भी तरह का हो, वह साधना के मार्ग में विक्षेप माना गया है, विघ्न माना गया है।

4. प्रमाद–प्रमाद का अर्थ है शुभ कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए अनुत्साह का होना, परवाह न करना। इसके रहते साधना का अनुष्ठान नहीं हो सकता है, साधना नहीं हो सकती है। अतः किसी भी कार्य प्रति उत्साह ही उस कार्य की क्रियान्विति के प्रति शरीर और मन को तैयार करता है अन्यथा निराशा, सुस्ती या शिथिलता ही रहती है। साधना के क्षेत्र में यदि साधना के प्रति उत्साह ही नहीं होगा और न ही उसका अनुष्ठान होगा तो परिणाम भी अलब्ध होगा, अप्राप्य होगा। अतः यह भी एक विघ्न है।

5. आलस्य–आलस्य का अर्थ है तमोगुण के कारण शरीर में भारीपन का रहना। यह सत्य है कि आलस्य के कारण साधना में मन नहीं लगता है। सामान्य जीवन में भी आलस्य व्यक्ति को शारीरिक रूप से नहीं वरन् मानसिक रूप से भी कमजोर कर देता है। अर्थात् इसके रहते हुए व्यक्ति किसी भी कार्य में न तो प्रवृत्त हो सकता है और न ही अपनी शक्तियों को विकसित कर सकता है। अन्य अनुकूलताएं होते हुए भी आलस्य का भाव रहता है तो कार्य की ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। कार्य की प्रवृत्ति नहीं होने पर फल की प्राप्ति भी संभव नहीं है। उसी तरह साधना के मार्ग में भी आलस्य एक बाधा है। साधना के क्षेत्र का एक बड़ा शत्रु है आलस्य। साधना के लिए आलस्य नहीं, तमोगुण नहीं वरन् सतोगुण आवश्यक है। तमोगुण साधक को तम से, अंधकार से बाहर नहीं निकलने देता है। ऐसी स्थिति में सतोगुण की प्राप्ति बहुत जटिल कार्य है। अतः आलस्य के रहते सामान्य जीवन में ही सफलता नहीं मिलती है तो साधना के कठिन मार्ग में तो और भी असंभव है। इसलिए आलस्य को विघ्न के अंतर्गत रखा गया है।

6. अविरति–अविरिति का अर्थ है विरति का न होना, वैराग्य का न होना, विरक्ति का न होना या विषयों में तृष्णा का रहना, इच्छा का रहना अर्थात् विषय भोगों के प्रति आकांक्षा का होना, आसक्ति का होना। अविरति दुःख का कारण है और विरति सुख का। साधना का मार्ग तप का मार्ग है। इसमें इंद्रियों पर अंकुश लगाना, उन्हें नियंत्रित करना, उन्हें वश में करना, उन्हें शुद्ध करना आवश्यक है। ऐसा न होने पर मन सदैव अस्थिर, चंचल और अतृप्त बना रहेगा। यह बंधन की अवस्था है, मुक्ति नहीं है। जब मन–मस्तिष्क अनेक उलझनों से भरा हुआ होता है या अनेक विषयों से बंधा होता है तो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तहां चेतना की विशिष्ट शक्तियों का, अलौकिक शक्तियों को उभरने का, उन्हें पल्लवति, पुष्पित और फलित होने का अवसर भी नहीं मिल पाता है। यह अवस्था भटकाव की अवस्था है जिसमें मानसिक शांति कोशों दूर होती है। ऐसी अवस्था में श्रम तथा समय दोनों तो नष्ट होते ही हैं और यह आवश्यक भी नहीं है कभी संतुष्टि भी प्राप्त हो सके। साधना का मार्ग तो त्याग का मार्ग है जिसमें विषयों के अनावश्यक भोगों को त्यागना ही होता है। यदि साधक के मन में विषय भोगों के प्रति गहन आकांक्षा का भाव है तो उसका मन शांत नहीं रह सकता है। मन भटकने से साधना की अतल गहराइयों को पार नहीं किया जा सकता है। अतः यह विघ्न बंधन क कारण है।

7. भ्रांतिदर्शन–भ्रांति दर्शन का अर्थ है भ्रामक ज्ञान, अवास्तविक ज्ञान, असत्य ज्ञान, मिथ्याज्ञान, झूठा ज्ञान आदि। भ्रांति दर्शन में सही को गलत माना जाता है और गलत को सही, वास्तविक को अवास्तविक समझा जाता है और अवास्तविक को वास्तविक। कहने का तात्पर्य है जो वस्तु, पदार्थ या विषय जिस रूप में है उसके उस रूप में भ्रम करना, उसमें विश्वास न करना, उसे विपरीत रूप में मानना, जानना और समझना भांति दर्शन है। ऐसी अवस्था में साधना को साधना नहीं वरन् असाधना ही माना जाएगा। सुख का मार्ग नहीं दुःख का ही मार्ग माना जाएगा, सत्य का मार्ग नहीं वरन् असत्य का ही मार्ग माना जाएगा। ऐसी स्थिति में चित्त तमोगुणी अवस्था को प्राप्त होता है। जब तक सत्य और असत्य में सम्यक् भेद नहीं होगा, भेद होने पर भी असम्यक् मार्ग का अनुसरण होगा तब तक योग संभव नहीं होगा। इसलिए यह भी योग के मार्ग में विघ्न बनता है।

8. अलब्धभूमिकत्व–अलब्ध भूमिकत्व का अर्थ है परिणाम की भूमिका का अलब्ध होना, अप्राप्य होना, प्राप्त नहीं होना आदि। साधना के क्षेत्र में किसी कारणवश समाधि की अवस्था तक न पहुंच पाना अलब्ध भूमिकत्व है। सामान्य जीवन में भी व्यक्ति किसी दिशा में अपना सम्यक् श्रम करता है, समय लगाता है, अपनी शक्ति लगाता है, अपने शरीर, मन और भावों को संतुलित रखकर पुरुषार्थ करता है। उसके उपरांत भी उसे यथा परिणाम नहीं मिलता है जिसका कि वह वास्तव में हकदार होता है या जिसके लिए लिए वह योग्य होता है, क्षमतावान होता है। ऐसी स्थिति में उस लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति निराशा, संशय, अनुत्साह, आदि नकारात्मक भाव उपस्थित होकर व्यक्ति को उस मार्ग से पदविचलित कर देते हैं। साथ ही पुनः उस ओर रुचि न होने से कर्म का मार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार साधना के क्षेत्र में भी साधक लंबे समय तक साधना करता है लेकिन फिर भी वह कारण विशेष से समाधि को प्राप्त नहीं कर पाता है। जब समाधि नहीं मिलती है या उस अवस्था की प्राप्ति नहीं होती है तो साधक के मन में भी निराशा अथवा अनुत्साह की स्थिति पैदा हो सकती है जिससे साधना में भी शिथिलता आने के संभावना बन जाती है। अतः अलब्धभूमिकत्व भी एक विघ्न है।

9. अन्वस्थितत्व–अन्वस्थित्व का अर्थ है अवस्थित नहीं होना, एकाग्र नहीं होना, टिकाव नहीं होना, रुकाव नहीं होना, स्थिरता नहीं होना, शांत नहीं होना या चंचलता का होना, चलायमान होना। साधना के संदर्भ में प्राप्त समाधि भूमि में चित्त का न ठहरना अर्थात् समाधि की अवस्था में अधिक समय तक चित्त की एकाग्रता का न होना अन्वस्थितत्व है। साधक समाधि की स्थिति को प्राप्त कर लेता है लेकिन अधिक समय तक उसमें चित्त स्थिर नहीं पाता है जिससे आगे की यात्रा अवरुद्ध हो जाती है। मंजिल को पाना, अपने लक्ष्य तक पहुंचना एक बात है और उसमें स्थिर रहना दूसरी बात है। व्यक्ति लक्ष्य की प्राप्ति करने पर उस सुख का अनुभव तभी कर सकता है जब उसका चित्त शांत हो, स्थिर हो। इसी प्रकार समाधि की अवस्था तो प्राप्त हो गई पर चित्त अधिक समय तक उस अवस्था में स्थिर नहीं है, शांत नहीं है तो उस सुख का, उस आनंद का वास्तविक अनुभव नहीं किया जा सकता है। अतः अन्वस्थितत्व भी एक विघ्न के अंतर्गत आता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपरोक्त नौ प्रकार के विघ्न या विक्षेप या अंतराय तो साधना के लिए बाधक हैं ही लेकिन इनके रहते हुए अन्य विक्षेप और उपस्थित होने लगते हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है–

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व और श्वास–प्रश्वास –ये सह विक्षेपों से उपस्थित होते हैं।

1) **दुःख**–दुःख का अर्थ है कष्ट पीड़ा आदि। दुःख तीन प्रकार के बताए गए हैं–आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

2) **आध्यात्मिक दुःख**– आध्यात्मिक दुःख के अंतर्गत शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक असंतुलन तथा उनसे उत्पन्न विकार सम्मिलित हैं। शारीरिक रोग, शारीरिक जड़ता, इंद्रियों की विकलता अर्थात् कमजोरी, अस्वस्थता या शरीर के किसी अंग विशेष या तंत्र विशेष के रोग से दुःख की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह भी सह विघ्न रूप में गिना गया है। रोग होना अलग बात है और रोग से दुःखी होना अलग बात है। रोग की अवस्था में समता भाव रखकर दुःख को दूर किया जा सकता है पर यह सबके लिए संभव नहीं है। जो इसे संभव नहीं बना पाता है या जिसके लिए यह असंभव है या कम संभव है, उसके लिए यह दुःख का कारण बनता है।

3) **आधिभौतिक दुःख**–आधिभौतिक दुःख का संबंध भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न दुःख है। किसी शत्रु के द्वारा कष्ट देना, सर्प, बिच्छू आदि जीव–जंतुओं द्वारा आहत होना भी दुःख का कारण बनता है क्योंकि इससे शरीर, मन और भाव सम नहीं रह पाते हैं, वेदना की अनुभूति होती है जो साधना मार्ग में अवरोध है। अतः इनसे उत्पन्न दुःख भी साधना के मार्ग में विघ्न बनता है।

4) **आधिदैविक दुःख**– आधिदैविक दुःख के अंतर्गत दैवीय प्रकोपों से उत्पन्न दुःख सम्मिलित हैं। इसके अंतर्गत अति वर्षा, सूखा, अकाल, भूकंप, अति सर्दी, अति गर्मी आदि प्राकृतिक प्रकोपों से उत्पन्न परिस्थितियां सम्मिलित हैं। ये परिस्थितियां सामान्य व्यक्ति को नहीं वरन् साधक को भी प्रभावित करती हैं। अतः इनसे उत्पन्न दुःख भी साधना के मार्ग में विघ्न बनता है।

5) **दौर्मनस्य**–दौर्मनस्य का अर्थ है इच्छापूर्ति न होने पर मन में होने वाला दुःख। साधक जब साधना मार्ग में प्रवृत्त होता है और किसी कारणव"ा इसके मार्ग में व्यवधान आने से उसकी इच्छापूर्ति नहीं हो पाती है तो उसके मन में दुःख होता है। यह स्थिति दौर्मनस्य की है। सदैव परिथितियां समान नहीं रहती हैं। अतः साधना के क्षेत्र में परिस्थितियों मे अनुकूलता–प्रतिकूलता दोनों हो सभव है। जब परिस्थितिया इच्छापूर्ति मे या साधना के मार्ग मे सहयोगी बनती हैं तब प्रसन्नता की अनुभूति होती है और इसके विपरीत प्रतिकूल परिस्थितियां अप्रसन्नता या दुःख का कारण बनती हैं। अतः इसे भी सह विघ्न के अंतर्गत रखा गया है।

6) **अंगमेजयत्व**–अंगमेजयत्व क अर्थ है "ारीरिक अंगों में कंपन का होना। साधक की शारीरिक अवस्था स्वस्थ है, संतुलित है, सम है तो समस्या नहीं रहती है लेकिन शरीर के किसी अंग में कंपन हो जैसे हाथों का कांपना, पैरों का कांपना अथवा गर्दन का कांपना–ये दोष अंगमेजयत्व के अंतर्गत आते हैं। इसमें शारीरिक स्थिरता न रहने से मन भी विचलित होने की संभावना रहती है। अतः अंगमेजयत्व को विघ्न माना गया है।

7) **श्वास**–श्वास का अर्थ है प्राणवायु का नासिका द्वारा भीतर ग्रहण करना। यदि यह क्रिया सामान्य हो, नियंत्रण में हो तो कष्ट की अनुभति नहीं होती है। यदि यह क्रिया सामान्य न हो या इस पर नियंत्रण न हो या अंतःकुभक में विघ्न हो तो साधक को कष्ट की अनुभूति हो सकती है। कहने का तात्पर्य है कि श्वास पर नियंत्रण जितना अधिक होगा साधना भी उतनी गहरी होगी, चित्त भी उतना ही शांत होगा और प्रसन्नता की अनुभूति भी उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत श्वास पर अनियंत्रण साधना के मार्ग में विशेष अनुभवों से वंचित करने में सहायक बनता है, साधक को कष्ट की अनुभूति कराता है। अतः यह भी सह विघ्न है।

8) **प्रश्वास**–प्रश्वास का अर्थ है प्राण वायु का नासिका द्वारा निष्कासन करना या बाहर करना। जब प्रश्वास पर नियंत्रण होता है तब उसे दीर्घ किया जा सकता है, उसे रोका जा सकता है। अर्थात् बाह्य कुंभक की अवस्था को बढ़ाया जा सकता है, उसमें स्थिरता लाई जा सकती है। प्रश्वास पर नियंत्रण चित्त को स्थिर करने में,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उच्च अनुभूतियों एवं प्रसन्नता में सहायक बनता है। ऐसा न होने पर प्रश्वास पर साधना के मार्ग में बाधा आने से साधक आत्मतोष की अनुभूति नहीं कर पाता है। अतः यह भी विघ्न के अंतर्गत रखा गया है।

9) उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि योग के मार्ग में एक नहीं वरन् अनेक विघ्न हैं जो साधक को अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार प्रभावित करते रहते हैं। जब तक ये विघ्न अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं तब तक साधक साधना के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता है या फिर उस मार्ग में अधिक सफलता को प्राप्त नहीं सकता है या वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः आवश्यकता है कि इन विघ्नों को दूर किया जाए, इन्हें हटाया जाए। तभी साधना का पथ सरल हो सकता है। सूत्रकार ने समाधि प्राप्त करने हेतु विघ्नों को दूर करने के लिए उपाय भी बताए गए हैं जिससे चित्त एकाग्र हो सके, निर्मल हो सके, मल रहित हो सके तथा समाधि प्राप्त करने के योग्य बन सके।

2.6 चित्त स्थिर करने के उपाय

किसी समस्या का समाधान तब संभव है जब उसे दूर करने हेतु उपायों पर क्रियान्विति की जाए–इसके लिए सूत्रकार ने निम्न उपाय बताए हैं–

1. एकाग्रता का अभ्यास

एकाग्रता का अर्थ है एक बिन्दु पर लंबे समय तक चित्त का टिकना। अतः इस एकाग्रता के अभ्यास से बाधाओं को दूर किया जा सकता है। सूत्रकार का कहना है कि **तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः** अर्थात् विघ्नों को दूर करने के लिए एक तत्त्व पर अभ्यास करना चाहिए। एक तत्त्व पर अभ्यास एकाग्रता के द्वारा ही संभव है। साधना के क्षेत्र में एक तत्त्व का संबंध विशिष्ट तत्त्व से ही हो सकता है। यह विशिष्ट तत्त्व परम सत्ता ही, परमात्मा ही है या उसका कोई प्रतीक ही है। अतः इस पर एकाग्रता साधकर चित्त को विक्षेप रहित किया जा सकता है। चित्त अनेक विषयों वाला होता है। अतः वह अनेक विषयों पर चिंतन करता है, स्मृति करता है, कल्पना करता है, अनेक विषयों पर रमण करता है, अनेक विषयों का स्वाद लेता है, अनेक विषयों से राग रखता है, अनेक विषयों से द्वेष रखता है। कहने का तात्पर्य है कि वह प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है। साधना के क्षेत्र में यह क्रियाशीलता साधक नहीं अपितु बाधक है। अतः एक तत्त्व या एक विषय पर ध्यान की बात आती है। एक तत्त्व या एक विषय पर ध्यान करना चित्त का अनावश्यक परिभ्रमण, अनावश्यक प्रतिक्रमण को कम करने में सहायक होता है। अतः एकाग्रता चित्त को शांत रखने का महत्त्वपूर्ण साधन है। साधना के मार्ग का प्रथम आवश्यक तत्त्व एकाग्रता ही है। एकाग्रता के अभाव में न भौतिक जगत में सफलता प्राप्त हो सकती है और न ही आध्यात्मिक जगत में। एकाग्रता के अभ्यास से चंचल चित्त पर अंकुश लगाकर, उसे वशवर्ती करके मनचाहा कार्य करवाया जा सकता है। जो भी व्यक्ति अपने जीवन में महान हुए हैं उनकी सफलता का राज भी यही एकाग्रता है।

शांत चित्त में मस्तिष्कीय क्षमताओं को फलने–फूलने का अवसर मिलता है अन्यथा चित्त की उधेड़बुन में या उथल–पुथल की अवस्था में रहने से तो शक्ति का अपव्यय होता ही रहता है। एकाग्रता के द्वारा जब चित्त एक विषय पर केन्द्रित होता है तो इससे मानसिक ही नहीं वरन् शारीरिक स्तर पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ने लगता है। तंत्रिकातंत्र–ग्रंथितंत्र आदि व्यवहार के महत्त्वपूर्ण तंत्रों के बीच संतुलन और सामंजस्य स्थापित होने लगता है। यह संतुलन साधना के उच्च सोपानों में गति करने में सहायक होता है। एक ओर शारीरिक नियंत्रण और दूसरी ओर मानसिक नियंत्रण दोनों मिलकर आंतरिक ज्ञान के अनुभव में बहुत ही सहायक बनते हैं। मस्तिष्कीय ग्रहण क्षमता या बौद्धिक ज्ञान का विकास तब होता है जब चित्त शांत अवस्था में रहे, एकाग्र अवस्था में रहे। अतः एकाग्रता के अभ्यास से बाह्य जगत का ज्ञान ही नहीं वरन् आंतरिक जगत के ज्ञान को भी प्राप्त किया जा सकता है। वैसे भी साधना के क्षेत्र में बाह्य जगत का ज्ञान नहीं अपितु आंतरिक जगत का ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण बनता है। यह एकाग्रता से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ही संभव है। जैसे–जैसे एकाग्रता बढ़ती जाएगी, वैसे–वैसे चित्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो जाएगा। सूक्ष्म चित्त ही आंतरिक ज्ञान को पकड़ने, उसे अनुभव करने, उसे जानने में सहायक है। अतः चित्त विक्षेपों को दूर करने के लिए एक तत्त्व पर एकाग्रता या ध्यान की बात आती है।

2. भावना का अभ्यास

भावना का अर्थ है चित्त में बार–बार या लंबे समय तक एक ही ध्येय का बना रहना। भावना के द्वारा भावना को बदला जाता सकता है, भावना के द्वारा विचार को बदला जा सकता है और भावना के द्वारा ही व्यवहार को भी बदला जा सकता है। इसे चिकित्सा का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र माना गया है। अतः भावना का अभ्यास सामान्य जीवन में नहीं वरन् साधना के क्षेत्र में भी सहयोगी है। साधना के क्षेत्र में विक्षेप या विघ्न बाधक तत्त्व हैं। इन्हें दूर करने हेतु सूत्रकार ने कहा है कि **मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**। अर्थात् सुख, दुःख, पाप और पुण्य के विपरीत मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के अनुष्ठान से चित्त निर्मल होता है।

साधनाकाल में साधक अनेक व्यक्तियों के संपर्क में आता है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव भिन्न–भिन्न प्रकार का होता है। यदि व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार साधक उसके साथ व्यवहार न कर सकेगा तो उसकी मनःस्थिति इससे प्रभावित हो सकती है। अतः धर्मी, अधर्मी, सुखी, दुःखी आदि के साथ इस प्रकार व्यवहार किया जाए कि साधक का मन विचलित न हो सके। सामान्यतया किसी के सुख की स्थिति में दुःख या ईर्ष्या का भाव दिखाई देता है तो दुःख की स्थिति में प्रसन्नता का भाव दिखाई देता है। पुण्यात्मा को देखकर मित्रता या राग का भाव उत्पन्न होता है तो पापी को देखकर घृणा का भाव दिखाई देता है। बार–बार में चित्त में इस प्रकार की भावना का उठना साधना पथ में बाधक है। साधक के लिए इस प्रकार की स्थितियां मन को विचलित करने वाली हैं, एकाग्रता को भंग करने वाली हैं। अतः साधक को सुखी व्यक्ति के साथ मैत्री का भाव रखना चाहिए तो दुःखी व्यक्ति के साथ करुणा का भाव रखना चाहिए। पुण्यात्मा के साथ मुदिता अर्थात् प्रसन्नता का भाव रखना चाहिए और पापात्माओं के साथ उपेक्षा या उदासीनता का भाव रखना चाहिए। यह व्यवहार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है जिससे साधक प्रत्येक स्वभाव वाले व्यक्तियों के साथ रहकर भी अपने लक्ष्य से विचलित न हो सके। चित्त में जमे हुए कुविचार, कुसंस्कार, अशुद्धियां आदि विकार मल हैं। मल सदैव गंदगी फैलाते हैं फिर वह गंदगी भले ही बाह्य जगत में हो या आंतरिक जगत में। जब तक चित्त में मल रहेंगे, अशुद्धियां रहेंगी तब तक न लौकिक जीवन सुख–शांति पूर्ण रह सकता है न ही अलौकिक जगत की ओर प्रस्थान हो सकता है। अंतर्जगत में प्रवेश के लिए, अंतर्मुखी होने के लिए चित्त की शुद्धि आवश्यक है। इस हेतु इनका निष्कासन, इनकी शुद्धि बहुत आवश्यक है। इसलिए साधना के क्षेत्र में इन मलों के निष्कासन के लिए सूत्रकार ने मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओं का वर्णन किया है जो चित्त को प्रसन्न रखने में सहायक होते हैं।

विद्वानों ने चित्त के मलों या कालुष्यों का वर्णन किया है जो तमोगुण और रजोगुण का परिणाम हैं। ये मल हैं–

1. **ईर्ष्या कालुष्य**–दूसरे व्यक्ति के गुण, यश, प्रतिष्ठा, धन, दौलत आदि को देखकर होने वाला मल ईर्ष्या कालुष्य है।
2. **परपकार चिकीर्षा कालुष्य**– दूसरे व्यक्तियों को अपने से प्रतिकूल मानकर उनकी बुराई करना अथवा उनका अपकार करना, उनका अहित करना या उसकी भावना रखना परपकार चिकीर्षा कालुष्य है।
3. **असूया कालुष्य**–दूसरे व्यक्तियों के गुणों में दोष देखना, विद्वानों को मूर्ख समझना, संत को पांखडी समझना व उन्हें उस रूप में प्रचारित करना असूया कालुष्य है।
4. **अमर्ष कालुष्य**–दूसरे के किए गए अपमान का या कटु वचनों को सहन न कर उससे बदला लेने की चेष्टा करना अमर्ष्य कालुष्य है।

उपर्युक्त चारों कालुष्यों की निवृत्ति भी चार प्रकार की भावनाओं के द्वारा की जा सकती है। ईर्ष्या कालुष्य की निवृत्ति मैत्री भाव से की जा सकती है तो परपकार चिकीर्षा कालुष्य की निवृत्ति करुणा भाव से की जा सकती है। इसी प्रकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

असूया कालुष्य की निवृत्ति मुदिता भाव से की जा सकती है तो अमर्ष कालुष्य की निवृत्ति उपेक्षा भाव से की जा सकती है। अतः मल किसी भी तरह का हो, भावना किसी भी तरह की हो पर उसकी विपरीत भावना करके उसे शुद्ध किया जा सकता है। शुद्ध भावना ही चित्त को वास्तविक रूप में प्रसन्न रखती है। जब चित्त प्रसन्न रहेगा तो साधना के क्षेत्र में और अधिक उत्साह होगा, उस ओर गति होगी साथ ही सत्य से भी निकटता बढ़ेगी।

3. प्राणों का संयम

प्राण जीवनी शक्ति है। इस शक्ति पर संयम के द्वारा भी विघ्नों को दूर किया जा सकता है। सूत्रकार ने कहा है कि **प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्स।** प्राणवायु को बारंबार रेचन और बाह्य कुंभक के द्वारा चित्त स्थित होता है। भीतर स्थित प्राणवायु को प्रयत्नपूर्वक नासिका द्वारा बाहर निकालना प्रच्छर्दन है और उस प्राणवायु को वहां रोकना विधारणा है। अतः इन दोनों क्रियाओं द्वारा प्राण का नियमन करना चाहिए या उसे वश में करना चाहिए। जब प्राण वश में हो जाता है तो इंद्रियां और मन भी वशवर्ती होने लगते हैं। कहा भी गया है कि प्राण की चंचलता मन को अस्थिर बना देती है, उसे विक्षिप्त बना देती है। इसलिए प्राणायाम को योग साधना में एक आवश्यक अंग में रूप में स्वीकार किया गया है। सामान्यतया व्यक्ति अनेक चित्त वाला होता है। कोई तमोगुणी होता है तो कोई रजोगुणी और कोई सतोगुणी। प्रकृति के ये तीनों गुण प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न–भिन्न तरह से प्रभावित करते हैं। कहने क तात्पर्य है कि जिसमें जो गुण जिस मात्रा में होता है तदनुरूप वैसा ही व्यवहार होता है। अतः कोई भावुक प्रकृति का है तो कोई तार्किक प्रकृति का, कोई शांत प्रकृति का है तो कोई अस्थिर प्रकृति का आदि–आदि। साधना के क्षेत्र में चित्त जितना अधिक स्थिर एवं शांत अवस्था में होगा, उतने अधिक विघ्नों से मुक्ति मिलेगी और साधना भी गहन होगी।

प्राणायाम के अनेक प्रकार निर्दिष्ट किए गए हैं–सूर्यभेदी, चंद्रभेदी, अनुलोम–विलोम, शीतली, शीतकारी, उज्जाई आदि। शरीर और मन की प्रकृति के अनुसार, उनकी क्षमता के अनुसार प्राणायाम का चयन कर रेचन और बाह्य कुंभक का अभ्यास कर चित्त को वशवर्ती किया जा सकता है, उसे शांत किया जा सकता है, उसे विक्षेप रहित किया जा सकता है जिससे कि वह साधना में सहायक हो सके।

4. इंद्रियानुभवों का अवलोकन

प्रत्येक इंद्रिय का अपना अलग अनुभव होता है। उन अनुभवों के अवलोकन से भी चित्त शांत होता है। सूत्रकार ने कहा है कि **विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबंधिनी।**

अर्थात् विषय वाली प्रकृति उत्पन्न होकर मन की स्थिति को बांधने वाली होती है। पांच इंद्रियों के पांच विषय हैं रूप, गंध, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द। इन पांच विषयों के पांच प्रकार के अनुभव हैं। यदि इन अनुभवों के साथ चित्त को, मनस को जोड़ दिया जाए तो भी स्वतः ही स्थिर होने लगता है। जैसे–नासिका के अग्रभाग में संयम का अभ्यास करने से दिव्य गंध का साक्षात्कार किया जा सकता है। जिह्वा के अग्रभाग में सयंम के अभ्यास से दिव्य रस का साक्षात्कार किया जा सकता है। जिह्वा के मध्य भाग में संयम के अभ्यास से दिव्य स्पर्श का अनुभव किया जा सकता है। जिह्वा के मूल में संयम के अभ्यास से दिव्य शब्द का साक्षात्कार किया जा सकता है और तालु पर संयम के अभ्यास से दिव्य रूप का साक्षात्कार किया जा सकता है। अतः इन पांच इंद्रियों के पांच अनुभव है जिसे प्रवृत्ति कहा जाता है। ये पांचों प्रवृत्तियां उत्पन्न होकर चित्त को बांधती हैं। अर्थात् चित्त पांच अनुभवो या प्रवृत्तियों तक ही सीमित रह जाता है, उसे बाहर भ्रमण करने का अवसर नहीं मिल पाता है जिससे वह अंतर्मुखी बनने लगता है। इसके अतिरिक्त भी भजन, कीर्तन, सद्वाणी, जप आदि भी चित्त को शांत रखने में सहायक हैं। त्राटक के द्वारा भी चित्त को बांधा जा सकता है। सुगंध का आलंबन लेकर भी चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य है कि दृश्य और श्रव्य विषयों पर भी प्रारंभावस्था में ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। इस प्रकार ये विषयों वाली प्रवृत्ति साधक के चित्त को एक विशेष आलंबन पर स्थित करती हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिससे साधक उन्हीं विषयों का ज्ञान कर सकता है, उन्हीं में दृढ़ स्थिरता बनाए रख सकता है। इसी का परिणाम होता कि वह चित्त को सूक्ष्म कर सकता है।

5. शोकरहित आलोक का दर्शन

शोक रहित आलोक या आंतरिक आलोक वह आलोक है जिसमें न शोक है, न दुःख है, न ताप है बल्कि शुद्ध आलोक है। इसीलिए कहा है **विशोका वा ज्योतिषमती** अर्थात् वि"ोक वाली (शोकरहित) अथवा प्रका"ा वाली चित्त की प्रवृत्ति चित्त को स्थिर करने में सहायक होती है। यदि भीतर में शोक है, अप्रसन्नता है तो चित्त भी उसी के अनुसार क्रिया करता है। साथ ही चित्त जब रजोगुण और तमोगुण से आच्छादित होता है तब भी चित्त एकाग्र अथवा शांत स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है। इस स्थिति में कोई ऐसा आलंबन आवश्यक होता है जो वास्तव में मानसिक द्वंद्वों को रोक सके, उन्हें शांत कर सके। शोकरहित और प्रका"ावान प्रवृत्ति ऐसे चित्त मलों को दूर करने में सहायक होती है। प्रारंभिक अवस्था में तो साधक को स्थूल विषयों का सहारा लेना होता है। इन विषयों पर जितती ही चित्त की एकाग्रता बढ़ेगी, शोक रहित ज्योति का दर्शन भी सरल हो जाएगा। ऐसा माना गया है कि नाद या भ्रूमध्य पर चित्त को स्थिर करने से दिव्य ज्योति के दर्शन किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त हृदय कमल पर ध्यान को सहायक माना गया है। इन विभिन्न विषयों पर ध्यान केन्द्रित करने का औचित्य है तमोगुण और रजोगुण को शांत सतोगुण का उदय करना। तमोगुण और रजोगुण के कारण ही शोक–संताप होता है, दुःख होता है। जब ये दोनों गुण शांत होते हैं तब जो आंतरिक आलोक की ज्योति का साक्षात्कार होता है, वह ज्योति ही ज्योतिष्मती है। अतः साधक अनेक आलंबनों के माध्यम से इस शोक रहित ज्योति का साक्षात्कार कर सकता है जहां मन स्वतः ही स्थिर हो जाता है।

6. वीतराग महापुरुषों पर एकाग्रता

वीतराग का अर्थ है जिसने राग को नष्ट कर लिया हो। अतः जिसका राग नष्ट हो गया हो, वह वीतरागी है। राग को दुःख का कारण माना गया है। इस दुःख से मुक्ति के लिए, चित्त को स्थिर करने के लिए ऐसे पुरुषों पर ध्यान केन्द्रित करने का निर्देश मिलता है जो वीतरागी हो। जैसा कि कहा है **वीतरागविषय वा चित्तम्** अर्थात् वीतराग पुरुषों का विषय करने वाला चित्त स्थिर होता है। वीतरागी पुरुष का विषयों से आसक्ति नहीं रह जाती है, उनकी वासना समाप्त हो जाती है अर्थात् वे वासना रहित हो जाते हैं। ऐसे में न शरीर से ही आसक्ति रह जाती है न पदार्थों से, न दुःख से पीड़ा होती है और न ही सुख में अति प्रसन्नता की अनुभूति। अर्थात् वे सम अवस्था को प्राप्त करते हैं, स्थितप्रज्ञता को प्राप्त करते हैं। इस इच्छा रहित अवस्था में, इस वासना रहित अवस्था में या इस राग रहित अवस्था में साधक के या योगी के भीतर कोई क्ले"ा आदि नहीं रह जाते हैं। वह शुद्ध सात्विक प्रवृत्ति का हो जाता है। इसीलिए वह उच्च अवस्था को प्राप्त करता है। अतः उसके चित्त का आलंबन लेने अथवा उसका ध्यान करने से उसी के अनुरूप प्रवृत्ति साधक के भीतर में आती है। इसीलिए विभिन्न देवी–देवताओं की मूर्तियों पर ध्यान करने की बात आती है। ऐसा माना गया है कि चित्त जिस विषय पर एकाकार होता है, वह उसके साथ तादाम्य स्थापित करता है और तदनुरूप ही उसके भीतर वे गुण प्रकट होने लगते हैं।

भगवान् श्रीराम जी का ध्यान करके उनके मर्यादित व्यक्तित्व के गुणों के साथ तादाम्य होता है, श्री हनुमान जी का ध्यान करके उनके बलशाली रूप और उनकी भक्ति के गुण के साथ तादाम्य स्थापित होता है। भगवान् बुद्ध से उनकी करुणा के साथ तादाम्य होता है तो भगवान् महावीर से उन्की समता का। कहने का तात्पर्य है प्रत्येक महापुरुष अपनी विशिष्टता के कारण प्रसिद्ध है। इन पर ध्यान करने वाला भी स्वयं को सात्विक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख कर सकता है। इससे चित्त स्वतः ही स्थिर भी रह सकेगा।

7. स्वप्न और निद्रा का ज्ञान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वप्न चेतना की अर्धचेतन अवस्था है और निद्रा चेतना की सुप्त अवस्था है। स्वप्न में चेतना कुछ अंशों में क्रियाशील रहती है निद्रा अवस्था में चित्त वृत्तियों के ज्ञान का अभाव होता है। अतः इन दोनों ही अवस्थाओं को चित्त स्थिर करने का साधन माना गया है। **स्वप्ननिद्राज्ञानालंबन वा।** अर्थात् स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का आलंबन लेकर चित्त को स्थिर किया जा सकता है। स्वप्न रजोगुण का प्रतीक है तो निद्रा तमोगुण का। स्वप्न अवस्था में कई बार अलौकिक दृश्यों के दर्शन होते हैं इससे चित्त प्रसन्न होता है। सामान्यतया जिन दृश्यों को जाग्रत अवस्था में नहीं देखा जा सकता है, उन्हें स्वप्न के माध्यम से देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति या साधक प्रसन्नता का अनुभव करता है, आनंद का अनुभव करता है। पुनः उन स्वप्नों पर ध्यान केन्द्रित कर पुनः वैसी अनुभूति होने से मन स्थिर होने लगता है। चेतन अवस्था में भी स्वप्न देखा जा सकता है। इससे संसार की क्षणभंगुरता, उसकी नश्वरता के भाव को दृढ़ करने से लौकिक वासनाओं, तृष्णाओं तथा इच्छाओं, वासनाओं आदि की व्यर्थता का ज्ञान होता है। अतः अचेतन एवं चेतन दोनों ही अवस्थाओं में देखे गए चित्त को स्थिर रखने में सहायक बनते हैं।

दूसरी ओर निद्रा की अवस्था में चित्त निष्क्रिय रहता है। अतः उस अवस्था की कोई स्मृति भी नहीं होती है। अतः इस प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में चित्त वृत्ति रहित हो जाता है। तब न सुख– दुःख की अनुभूति होती है न किसी पदार्थ की प्रतीति होती है, न कोई इच्छा शेष रह जाती है। कहने का तात्पर्य है चित्त पूर्ण विश्रांति अवस्था को प्राप्त करता है। अतः ऐसे अनुभव को अंतःकरण में स्थिर करने से चित्त शांत होने लगता है। चेतन अवस्था में भी प्रगाढ़ निद्रा की अनुभूति की जा सकती है जिसे पूर्ण अंतर्मौन की अवस्था कहा गया है। जहां पूर्ण मौन है स्वतः ही चित्त स्थिर हो जाएगा। अतः स्वप्न और निद्रा अवस्था में जाग्रत विषय का ज्ञान और इंद्रियों की चंचलता नष्टप्राय हो जाती है। अतः बाह्य वृत्तियां भी नष्ट हो जाती हैं। ऐसे ज्ञान का आलंबन लेकर चित्त स्थिर किया जा सकता है।

8. अभिमत वस्तु पर आलंबन

अभिमत का अर्थ है इच्छित विषय, अनुकूल विषय। सूत्रकार ने साधकों के लिए कहा कि **यथाभिमतध्यानद्वा।** अर्थात् जो विषय अभिमत हो उस विषय पर ध्यान किया जा सकता है, उससे चित्त को स्थिर किया जा सकता है। यहां सूत्रकार ने साधकों के लिए विषय चुनने हेतु स्वतंत्रता दे दी है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के गुण, स्वभाव, प्रकृति, रुचि आदि भिन्न–भिन्न आकार–प्रकार के होते हैं। ऐसी स्थिति में सभी के लिए ध्यान का एक ही आलंबन नहीं हो सकता है, एक विषय वस्तु नहीं हो सकती है। अतः यह बात अधिक अहम् या महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती है कि ध्यान वस्तु क्या है वरन् यह बात अहम् और महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि चित्त की स्थिरता किसमें अधिक समय तक टिकती है। कहने का तात्पर्य है जिस विषय वस्तु पर अधिक समय तक चित्त स्थिर रह सके, शांत रह सके, वह आलंबन अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह आलंबन कोई चित्र हो सकता है, कोई मूर्ति हो सकती है, कोई शब्द हो सकता है, कोई गंध हो सकती है आदि–आदि। ये इद्रियों के द्वारा अनुभूत विषय हो सकते हैं या अलौकिक या काल्पननिक वस्तु अथवा साकार या निराकार वस्तु हो सकते हैं। इसमें साधक की प्रकृति, उसका विश्वास, उसकी श्रद्धा, उसका समर्पण आदि भी सहयोगी बनते हैं। अतः अपनी सुविधानुसार, अपनी इच्छानुसार विषय वस्तु का आलंबन लेने से साधक को मानसिक द्वंद्वों में मुक्ति मिल सकेगी। यदि प्रकृति के अनुकूल विषय हो तो मन प्रसन्न रह सकेगा, स्थिर रह सकेगा और योग की उच्च अवस्थाओं को प्राप्त किया जा सकेगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साधना पथ पर विघ्नों को दूर करने के लिए चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। चित्त की एकाग्रता के लिए आलंबन चाहिए। आलंबन एक नहीं हो सकता है वरन् अनेक हो सकते हैं। अतः प्रत्येक साधक अपनी प्रकृति के अनुसार उनका चयन कर सकता है। महर्षि पतंजलि ने विघ्नों अथवा विक्षेपों को दूर करने, चित्त की एकाग्रता एवं प्रसन्नता बढ़ाने साथ ही योग की अवस्था प्राप्त करने हेतु जिन उपायों का वर्णन किया है वे अति महत्त्वपूर्ण हैं, आवश्यक हैं। प्रत्येक उपाय की अपनी महत्ता है। यदि साधक श्रद्धापूर्वक इन उपायों का अभ्यास करे तो निःसंदेह वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

I. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पातंजल योग सूत्र को कितने पादों में बांटा गया है?
2. पतंजलि के अनुसार के योग की परिभाषा लिखिए।
3. वृत्तियां कितनी हैं?
4. वृत्तियों को रोकने का उपाय क्या है?
5. वैराग्य के कितने प्रकार हैं?

II. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. योग के स्वरूप को समझाइए।
2. चित्त की अवस्थाओं को बताइए।
3. प्रमाण को समझाइए।
4. वैराग्य को स्पष्ट कीजिए।
5. चार भावनाओं को समझाइए।

III. निबंधात्मक प्रश्न

1. चित्त वृत्तियों की व्याख्या कीजिए।
2. योग के विघ्न बताइए।
3. चित्त को स्थिर रखने के उपाय बताइए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–3 पातंजल योग (ब)

इकाई की संरचना

3.0 उद्देश्य

3.1 क्रियायोग

3.2 क्लेश

- 3.2.1 क्लेश के प्रकार
- 3.2.2 अस्मिता
- 3.2.3 राग
- 3.2.4 द्वेष
- 3.2.5 अभिनिवेष
- 3.2.6 क्लेश मुक्ति का उपाय ध्यान

3.3 अष्टांग योग

- 3.3.1 यम
- 3.3.2 नियम
- 3.3.3 आसन
- 3.3.4 प्राणायाम
- 3.3.5 प्रत्याहार
- 3.3.6 धारणा
- 3.3.7 ध्यान
- 3.3.8 समाधि

3.4 संयम

3.5 कैवल्य का स्वरूप

3.6 अभ्यास प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का पढ़ने के बाद निम्न उद्देश्यों की पूर्ति हो सकेगी–

1. क्रियायोग के स्वरूप को जान पाएंगे।
2. पंचक्लेशों के बारे जान जान पाएंगे।
3. अष्टांग योग के विभन्न अंगों की जानकारी कर सकें।
4. संयम के स्वरूप को समझ पाएंगे।
5. कैवल्य के स्वरूप को समझ सकेगे।

योग साधन एवं साध्य दोंनों ही है। अतः इस मार्ग पर चलने के लिए योग को सर्वप्रथम साधन के रूप में अपनाना होगा तभी उसका साध्य रूप प्राप्त हो सकेगा। साधना का पथ सुगम नहीं अपितु दुर्गम है। इसे वही सुगम बना सकता है जिसकी साधना में रुचि हो साथ ही जिसका संकल्प बल सुदृढ़ हो। सूत्रकार ने साधना के पथ को क्रमशः विभिन्न सोपानों में निर्दिष्ट किया है जिनका अनुसरण कर साधक अपने लक्ष्य तक सरलता से पहुंच सकता है। क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को क्षीण कर, दुःखों का अंत कर जब साधक आगे बढ़ता है तो चेतना की उच्च भूमिकाओं से उसका संपर्क स्थापित करता है। योग की अंतिम अवस्था में पहुंचने हेतु क्रेयायोग ही नहीं अपितु संपूर्ण अष्टांग योग की आवश्यकता है। क्रियायोग में योग के तीन अंग ही हैं पर साधकों की भिन्न–भिन्न चित्त अवस्थाएं हैं। अतः योग के संपूर्ण आठ अंग सामान्य साधक को स्व स्वरूप की प्राप्ति कराने में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। समाधि अवस्था पर आते–आते जब चित्त पटु बन जाता है या धरणा, ध्यान, समाधि तब तीनों एक हो जाते हैं तो उसे संयम कहा है। इस स्थिति को प्राप्त चित्त को विभिन्न सूक्ष्म विषयों में संयम करने की बात भी निर्दिष्ट है। इतना ही नहीं, चित्त जब इससे भी आगे बढ़ता है तो वह अपने कारण रूप में विलीन हो जाता है तब प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का स्पष्ट बोध हो जाता है। तब द्रष्टा अपने स्व स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है। यही कैवल्य का स्वरूप भी माना गया है।

3.1 क्रियायोग

क्रिया का अर्थ है कर्म करना। साधनारूढ़ के लिए यह आवश्यक है कि वह शरीर, मन, प्राण आदि को इस योग्य बना ले कि साधना पथ में उसे कोई बाधा न सता सके। इसके लिए क्रिया योग को महत्त्वपूर्ण माना गया है क्रिया को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि **तपस्वाध्यायेश्वरप्रधिानानि क्रियायोगः** –तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है। इन तीनों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

1. तप–तप का अर्थ है तपाना। शरीर इंद्रिय, मन, वाणी आदि पर अंकुश लगाने के लिए, उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए तप का विशेष महत्त्व है। जैसे अग्नि से धातुएं विकार रहित हो जाती हैं, उनमें निखार आ जाता है, वैसे ही तप से शरीर, मन आदि जड़ तत्त्वों पर तो प्रभाव पड़ता ही है साथ ही चेतना भी निर्मल बनती जाती है जिससे साधना का मार्ग सुगम बन जाता है। तप के तीन प्रकार हैं–

1. **कायिक तप**–कायिक तप का संबंध शरीर से है। वस्तुतः शरीर ही शुचि और अशुचि का गृह है। अर्थात् अशुद्धि जैसे मल, मूत्र, वात, पित्त और कफ आदि इसी शरीर में हैं तो आत्मा जैसी शुद्ध स्वरूप भी इसी शरीर में है। अतः जब तक इस शरीर की गंदगी को दूर नहीं किया जाएगा तब तक आत्मा के दर्शन नहीं हो सकते हैं। उस आत्मा तक जाने के लिए शरीर ही माध्यम है। अतः इसे शुद्ध रखने के लिए तप रूपी साधन को अपनाना आवश्यक माना गया है। जब शरीर की शुद्धि होगी तब इसमें अशुद्धियों से होने वाले विकारों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्वतः शमन हो जाएगा। शरीर को ही साधना का माध्यम माना गया है। शारीरिक तप के अंतर्गत शरीर को इस योग्य बनाया जाए कि वह सर्दी, गर्मी, भूख–प्यास आदि को सहन कर सके। अर्थात् विपरीत परिस्थितियां शरीर को प्रभावित न कर सकें। इसके अतिरिक्त उपवास, लंघन, आसन, प्राणायाम आदि का पालन करना, शरीर की ऊर्जा का उपयोग परोपकार में, सात्विक श्रम में लगाना, कर्मयोग करना आदि कायिक तप के कई रूप हो सकते हैं।

2. **वाचिक तप**–वाचिक तप का संबंध वाणी से है। वाणी का अनावश्यक उपयोग ऊर्जा का ही व्यय नहीं करता है वरन् मन को भी चंचल बनाता है। अतः वाणी पर मौन या जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना वाचिक तप का प्रतीक है। बहुधा वाणी से ही अनेक समस्याएं भी उत्पन्न हो जाती हैं जिससे सामाजिक संबंधों में भी कटुता आ जाती है। साधना के क्षेत्र में इसका वर्जन होता है। अतः वाणी का उपयोग सत्य परायण में, प्रिय वचनों में, सत्वचनों में, भजन–कीर्तन में, प्रभु के गुणगान में लगाना चाहिए। इससे वाणी का सदुपयोग तो होगा ही साथ ही सत्प्रवृत्ति की ओर भी मन लगा रहेगा। मौन का अभ्यास भी मानसिक रूप से शांत रखता है। जितने विचार होंगे, मानसिक द्वंद्व भी उतने ही रहेंगे। अतः वाचिक तप का उपयोग भी साधना का प्रमुख अंग है।

3. **मानसिक तप**–मन का अर्थ है मनन करना। मन का कार्य है स्मृति, कल्पना और चिंतन। जब इन तीनों कार्यों में असंतुलन होता है तो मानसिक स्थिति भी असंतुलित हो जाती है। अतः इन तीनों सम्यक् व संतुलित होना अति आवश्यक है। मानसिक तप के अंतर्गत सद्विचारों को स्थान देना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि विचारों से स्वयं को भावित करना, वासना रहित विचारों को प्रश्रय देना आदि सम्मिलित है। व्यवहार के लिए विचार ही जिम्मेदार होते हैं। अतः विचारों को साधना के अनुकूल बनाना आवश्यक है। यदि विचार ही शुद्ध नहीं होंगे तो साधना पथ में आगे नहीं बढ़ा सकता है। इसलिए सत् विचारों को ही धारण करना मानसिक तप का परिचायक है।

2. **स्वाध्याय**– स्वाध्याय का अर्थ है स्व का अध्ययन और साथ ही सद्ग्रंथों का अध्ययन जिससे सद्मार्ग का अनुसरण किया जा सके। स्व का समीक्षात्मक अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है। स्व के समीक्षात्मक अध्ययन के बाद कर्तव्य–अकर्तव्य का बोध करना पुनः कर्तव्य वाले मार्ग का चयन करने, उस ओर बढ़ने हेतु भी मार्ग दर्शन की आवश्यकता होती है। सद्ग्रंथों का उसमें विशेष योगदान रहता है। अतः यह अध्ययन भी स्वाध्याय के अंतर्गत ही आता है। एक ओर स्वाध्याय व्यक्ति के आत्म निरीक्षण के लिए, आत्म परीक्षण के लिए सहयोगी बनता है तो वहीं दूसरी ओर स्वाध्याय आत्म परीक्षण के पश्चात्, सत्य की खोज के पश्चात् उस पर मार्ग पर चलने के लिए भी प्रेरित करता है। अर्थात् स्वाध्याय कर्मयोग का साधन है। इसके द्वारा साधक अपने कर्तव्यपथ पर आरूढ़ होता है।

3. **ईश्वरप्रणिधान**–मन, वचन और कर्म से स्वयं को ईश्वर में समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है। अपने को अकर्ता मानकर, निमित्त मानकर सभी कर्मों को साक्षीभाव से करना, निर्लिप्त भाव से करना और ईश्वर को समर्पित करते हुए करना ईश्वर प्रणिधान का ही प्रतीक है। जब व्यक्ति या साधक कर्ता के रूप में कार्य संपादित करता है तो अहम् भाव बना रहता है साथ ही फल की प्राप्ति की आशा भी बनी रहती है। फल मिलने पर सुख और न मिलने पर दुःख का भाव भी होता है। यही कर्म जब अहम् त्याग कर किया जाता है, निमित्त भाव से किया जाता है, मात्र कर्तव्य निर्वाह के रूप में किया जाता है जिसमें उसे आनंद का बोध होता है, आनंद की अनुभति होती है तो उसका स्वरूप ही बदल जाता है। यह कार्य कठिन अवश्य है पर साधना के पथ में आगे बढ़ने के लिए, साधक को मानसिक तनावों, मानसिक उलझनों, मानसिक द्वंद्वों आदि से मुक्त होने के लिए, प्रसन्नता बनाए रखने के लिए ईश्वर के गुणगान, भजन, कीर्तन आदि में चित्त को लगाना वास्तव में स्वयं को बंधन मुक्त करना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.2 क्लेश

क्लेश का सामान्य अर्थ है आंतरिक पीड़ा, द्वंद्व आदि। इनकी अभिव्यक्ति व्यवहार के माध्यम से होती है। क्लेश न्यूनाधिक रूप से सभी प्राणियों में पाया जाता है। अर्थात् संपूर्ण प्राणिमात्र को जगत् के प्रपंचों के बंधन रूपी विकार आबद्ध करते हैं या उन्हें बांधते हैं। दैनिक जीवन की आपाधापी से भले ही हमें क्लेशों का भान नहीं रहता है या वे चेतन अवस्था में व्यक्त नहीं हो पाते हैं अपितु उनका अस्तित्व चेतना के गहन अंतराल में छिपा रहता है। यदा–कदा अवसर मिलते या निमित्त मिलते ही उनकी अभिव्यक्ति भी हो जाती है। जिसमें जिस मात्रा में या जिस सघनता से क्लेश होते हैं, उसी मात्रा या सघनता से उनकी अभिव्यक्ति भी होती है। कहने का तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में क्लेश समान रूप से नहीं होते है बल्कि मात्रात्मक भिन्नता होती है। सामान्यतया व्यक्ति भीतर से कुछ और होता है, बाहरी अभिव्यक्ति कुछ और ही होती है। यह व्यक्ति का दोहरा व्यक्तित्व है। कथनी और करनी में असमानता का कारण भी यही क्लेश है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव अधिक बौद्धिक है। इसलिए वह अपने व्यवहार में चतुराई से भी काम लेता है। अन्य प्राणी अपनी प्रकृति के अनुरूप स्थिर व्यवहार करते हैं लेकिन मानव प्राणी की प्रकृति भिन्न है, परिवर्तनशील है। जैसे–जैसे त्रिगुणों का प्रभाव होता है, वैसा व्यवहार अभिव्यक्त होता है। अतः स्पष्ट है कि व्यवहार की अभिव्यक्ति के पीछे ये क्लेश जिम्मेदार होते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से व्यवहार के लिए अचेतन मन में छिपे संस्कार जिम्मेदार होते हैं। दार्शनिकों का भी यही मत है कि दुःख के लिए वर्तमान नहीं अपितु भूतकाल जिम्मेदार है। पूर्व में किए गए कर्म या संस्कार आदि दैनिक व्यवहार में परिलक्षित होते हैं। दर्शन की भाषा में वे क्लेश हैं। अतः अचेतन या अवचेतन में पीड़ा पहले से ही विद्यमान रहती है। व्यवहार तो बाद में होता है। क्लेश एक नहीं अनेक हैं जिनको समझना भी आवश्यक होगा।

3.2.1 क्लेश के प्रकार

योगदर्शन में क्लेश के पांच प्रकार हैं। सूत्रकार ने कहा है–**अविद्याअस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः** अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं। ये पंच क्लेश ही महान दुःख के प्रदाता हैं या दुःख देने वाले हैं। इन क्लेशों के कारण ही व्यक्ति कर्म करता है और पुनः वैसे ही कर्म बंध होते हैं। क्लेश बीज रूप में हैं जो परिणाम के द्वारा व्यक्त होते हैं। अर्थात् व्यवहार से इनके अस्तित्व का ज्ञान होता है। इन पंचक्लेशों का विवरण निम्न प्रकार है–

1 अविद्या– अविद्या का अर्थ है विद्या का अभाव, विद्या का न होना। विद्या कोरा पुस्तकीय ज्ञान नहीं है अपितु इसमें बुद्धि के उच्च क्षेत्र कार्य करते हैं अन्यथा शिक्षित कहा जाने वाला वर्ग तो अविद्या से मुक्त ही हो जाता लेकिन ऐसा होता नहीं है। अतः विद्या का संबंध पुस्तकों से नहीं अपितु बुद्धि के उस स्तर से जहां उचित–अनुचित, सही गलत में, संश्लेषण–विश्लेषण आदि की प्रधानता होती है। पुस्तकें इसमें सहायक अवश्य बन सकती हैं पर ग्रहण करने वाला, धारण करने वाला, उहापोह आदि करने वाला तो मस्तिष्क है, बुद्धि का स्तर है। विद्वानों ने बुद्धि के सात स्तर माने हैं–सुश्रुषा (जिज्ञासा), श्रवण (सुनना), ग्रहण, धारण, उहापोह (चिंतन–मंथन), अर्थ (मूल्य) और विज्ञान्। अतः ज्ञान को विज्ञान बनने तक की पूरी प्रक्रिया बुद्धि के विभिन्न स्तरों द्वारा संपादित होती है। ज्ञान जब अधूरा रहता है तब विद्या नहीं अपितु अविद्या का ही साम्राज्य रहता है। अविद्या को सब क्लेशों का मूल माना गया है–**अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।**

अर्थात् अविद्या ही प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार वाले क्लेशों का क्षेत्र है। अर्थात् अविद्या ही सुप्त, निर्बल, बिखरे हुए और विस्तृत क्लेशों की अवस्थाओं का क्षेत्र अथवा मूल कारण होती है। कहने का तात्पर्य है कि अविद्या अन्य चार क्लेशों की जननी है। यदि अविद्या का अभाव हो जाता है तब अन्य क्लेश भी समाहित हो जाते हैं, उनका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। अविद्या से उत्पन्न अन्य चार क्लेश चार अवस्थाओं में होते हैं–प्रसुप्त, तनु, विछिन्न और उदार जिनका विवरण निम्न प्रकार है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

a) **प्रसुप्त**–प्रसुप्त का अर्थ है सोया हुआ। जो क्ले"ा चित्त भूमि में अवस्थित रहते हैं, चित्त में स्थिर रहते हैं लेकिन जागृत अवस्था में नहीं होते हैं, वे प्रसुप्त क्ले"ा हैं। स्थिर अवस्था में होने के कारण अपना कार्य संपादित नहीं कर पाते हैं। जैसे बाल्यावस्था में विषय भोगों की वासनाएं बीज रूप तो चित्त में दबी रहती हैं लेकिन समय आने पर वे जागृत हो जाती हैं। सुषुप्ति अवस्था में तमोगुण की प्रधानता होने से ये अपना कार्य नहीं कर पाते हैं लेकिन रजोगुण की प्रधानता होने पर वे क्रियाशील हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य है कि जब तक संस्कार बीज रूप में होते हैं वे सुप्तावस्था में होते हैं तो वे फल भी नहीं दे पाते हैं। अतः अविद्या उत्पन्न अन्य क्लेश जब तक सुप्तावस्था में रहते हैं तब तक वे भी निष्क्रिय ही रहते हैं। साधना के मार्ग में क्रियायोग के द्वारा इन क्लेशों को सुप्त किया जाता है ताकि ये अपना प्रभाव न छोड़ सकें।

b) **तनु**–तनु का अर्थ है निर्बल, कमजोर आदि। जिन क्ले"ाों को क्रियायोग द्वारा निर्बल अथवा शिथिल किया गया हो, वे क्ले"ा तनु क्ले"ा हैं। विषय होने पर भी वे अपना कार्य नहीं कर पाते हैं और शांत रहते हैं लेकिन वासनाएं चित्त भूमि में बनी रहती है। यदि बीज निर्बल होता है तो बड़ा वृक्ष बनने की संभावना भी कम हो जाती है। इसी प्रकार चित्त में अवस्थित संस्कार चित्त में बीज रूप में तो निरंतर विद्यमान रहते ही हैं पर फल नहीं दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति या साधक क्रियाशील रहने में सक्षम नहीं हो पाता है। साधना के क्षेत्र में क्रियायोग से ही यह संभव होता है।

c) **विच्छिन्न**–विच्छिन्न का अर्थ है छिन्न–भिन्न, बिखरा हुआ, अव्यवस्थित आदि। अतः विच्छिन्न वे क्ले"ा होते हैं अस्तित्व में हैं लेकिन किसी दूसरे बलवान क्ले"ा से दबे रहते हैं। जब बलवान क्लेश हटता है तो वे भी उपस्थित हो जाते हैं। जैसे सुख की उपस्थिति में दुःख छिपा रहता हैं तो दुःख की उपस्थिति में सुख। राग की अवस्था में द्वेष छिपा रहता है तो द्वेष की अवस्था में राग। सामान्य अवस्था में भी यही देखा जाता है कि बलवान के आगे निर्बल टिक नहीं पाता है। अर्थात् बलवान के रहते कमजोर अशक्य, असमर्थ ही रहता है। अतः स्पष्ट है कि दो विरोधी तत्त्व साथ में नहीं रहते हैं। जब एक तत्त्व क्रियाशील होता है दूसरा निष्क्रिय। क्लेशों की विच्छिन्न अवस्था भी ऐसी ही है। क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को विच्छिन्न किया जाता है।

d) **उदार**–उदार का अर्थ है विस्तृत, फैला हुआ, असंकुचित, सीमा रहित, असीम, शक्तिमान आदि। अतः जो क्ले"ा अपने समस्त विषयों, सहायक विषय भोगों को पाकर भी अपने कार्य में सुचारु रूप से प्रवृत्त होते हैं, उदार क्ले"ा कहलाते हैं। अर्थात् संपूर्ण विषय भोगों को पाकर भी अविचलित नहीं हैं वरन् अपना कार्य सुचारु एवं व्यस्थित तरीके से कर रहें हैं। यह अवस्था उदार अवस्था है। संकुचित एवं निर्बल अवस्था में ऐसा संभव हो ही नहीं सकता है। अविचलित वह रहता है जो कमजोर होता है, निर्बल होता है। यह तो इसके विपरीत अवस्था है जहां क्लेश उदार हैं, शक्तिशाली हैं जो अपना कार्य भी अपनी शक्ति के अनुरूप करते हैं। क्रियायोग की साधना के द्वारा इसे संकुचित और निर्बल किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि क्लेशों की चार अवस्थाएं हैं जो सुप्त से सक्रिय अवस्था को प्राप्त होते हैं जैसे कि पहाड़ से गिरने वाली जल धारा की अवस्था होती है। पहाड़ से गिरने वाली जलधारा पूर्व में संकुचित होती है और बाद में फैलती जाती है। अर्थात् जैसे–जैसे जलधारा समुद्र की ओर बढ़ती है, वह चौड़ी होती जाती है साथ ही समुद्र में पहुंचते–पहुंचते वह और भी अधिक चौड़ी हो जाती है।

2. अविद्या का स्वरूप–अविद्या का अर्थ है ज्ञान का अभाव। अर्थात् सत्य ज्ञान का अभाव। योग दर्शन में अविद्या को स्पष्ट करते हुए कहा है–**अनित्यशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या**–यह मिथ्या ज्ञान, विपरीत ज्ञान है और असम्यक् ज्ञान है। इसमें अज्ञान का पर्दा इतना सघन होता है कि सत्य सदैव विपरीत अवस्था में भाषित होता है। ऐसी अवस्था चाहे सामान्य व्यक्ति की हो अथवा साधक की, दोनों के लिए दुःखकर है। अतः अविद्या की चार अवस्थाएं निम्न हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

a) **अनित्य में नित्य का ज्ञान**–अनित्य में नित्य का ज्ञान का तात्पर्य है कि जो संसार, संसार की विषय वस्तु, पदार्थ, जीवन, इसके भोग विलास, विभिन्न अनुभूतियां आदि सब जो अनित्य हैं, न''वर हैं, उत्पत्ति और विना''धर्मी वाले हैं, उन्हें नित्य समझना, शा''वत समझना और उन्हीं में रमण करना, उन्हीं में सुख शांति खोजना ही अनित्य में नित्य समझना है। साधना का पथ सत्य का पथ होता है, लौकिक नहीं अलौकिक होता है। अविद्या के कारण प्रायः दृष्टि विपरीत होने से अनित्य में भी नित्य के दशर्न होते हैं। व्यक्ति शरीर को नित्य समझता है फलतः उसके प्रति आसक्ति भाव बढ़ता है जो साधना के मार्ग में बाधक है। इसके अतिरिक्त सांसारिक पदार्थों में, विषय भोगों में वास्तविक सुख की अनुभूति करना भी दुःखकर है। प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा सांसारिक विषय भोगों की अथवा पदार्थों के वास्तविक ज्ञान को जानते हुए भी राग–द्वेषात्मक प्रवृत्ति रखना अनित्य में नित्यता को खोजना, सुख–शांति को खोजना, उसी में आसक्ति बनाए रखना, निरंतर उसी का ध्यान करना अविद्या का ही प्रतीक है। चित्त में निरंतर सांसारिक विषय वस्तुओं के प्रति उत्कंठा, आबद्धता, खिंचाव चित्त को अस्थिर रखता है। यह अवस्था योग के लिए बाधक है। अतः अनित्य में नित्य को खोजना या उसका अनुभव करना अविद्या का ही परिणाम है।

b) **अशुचि में शुचि का ज्ञान**–अशुचि (अपवित्रता) में शुचि (पवित्रता) समझना अविद्या है। जैसे शरीर में व्याप्त मल, मूत्र, कफ आदि कई प्रकार की अपवित्रता है। फिर भी इसे पवित्र मान लेना अविद्या ही है। हमारे शरीर में शुचि और अशुचि दोनों ही पाई जाती हैं। यह शरीर अगर गंदगी का स्थान है तो यहां पवित्रता भी है। अनेक विकार रूपी मल हैं तो यहीं आत्म तत्त्व जैसा पवित्र तत्त्व भी है। ये मल अन्नयय शरीर तक ही सीमित नहीं हैं वरन् प्राणमय और मनोमय कोश तक भी व्याप्त हैं। अन्नमय शरीर में ये स्थूल रूप में होते हैं जो दृष्टिगत होते हैं जैसे कि कफ, मल, मूत्र आदि। प्राणमय शरीर में ये मल प्राण को अशुद्ध करते हैं तो मनोमय शरीर में मन को अस्वस्थ रखते हैं, विचारों को अशुद्ध रखते हैं, व्यवहार को अशुद्ध रखते हैं। अतः अनेक मलों वाले शरीर को पवित्र मानना और आत्म तत्त्व जैसे पवित्र तत्त्व को न जानना अविद्या है। इसके अतिरिक्त भी असद् कर्म जैसे हिंसा, चोरी, वै''यावृत्ति, अन्याय अपराध आदि भी अपवित्र कर्म हैं। तत्प''चात् भी इन्हें पवित्र मानना, इसमें लिप्त रहना अविद्या है। अतः अशुचि में शुचि का ज्ञान साधक को योग मार्ग में जाने से रोकता है।

c) **दुःख में सुख का ज्ञान**–यह संसार यदि अनित्य है तो यहां सब कुछ अनित्य, परिवर्तनशील है अर्थात् प्रकृति ही परिर्तनशील है चाहे वह भौतिक जगत की हो या त्रिगुणात्मक हो। जैसे जीवन की अनेक अवस्थाएं हैं जो परिवर्तनशील हैं, अनेक ऋतुएं हैं जो परिवर्तनशील हैं, या यों भी कह सकते हैं कि प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। ऐसी अवस्था में जिस क्षण से या जिस अवस्था से हमारा संबंध होता है वहां हम सुख की अनुभूति करते हैं लेकिन ये सुख भी परिवर्तनशील है, दुःख का कारण हैं। जीवन में भोग्य अनेक विषय जिनसे हमें सुख की अनुभूति होती है, निरंतर उनके पीछे भागते रहना एक आदत सी बन जाती है। जीवन भर इन संसारी विषय भोगों के पीछे भागना वास्तविक सुख शांति को प्राप्त तो नहीं कराता है वरन् दुःख का ही कारण बनता है। जब इन विषय भोगों से हमारा संबंध टूटता है तो हमें सुख की नहीं अपितु दुःख की ही अनुभूति होती है। इन विषय भोगों में या सांसारिक दुःखकर पदार्थों में क्षणिक सुख तो संभव है पर दूरवर्ती नहीं। अतः ये समस्त संसारी विषय भोग, वासनाएं आदि सब दुःख हैं। इन्हें सुख समझ लेना अविद्या है।

d) **अनात्मा में आत्मा का ज्ञान**–हमारा शरीर जड़–चेतन का समन्वय है। शरीर, बुद्धि, मन, इंद्रियां आदि सब जड़ हैं। मात्र आत्म तत्त्व ही चेतन तत्त्व है, नित्य है। अविद्या के कारण व्यक्ति शरीर आदि जड़ तत्त्वों के अधीन होकर विषय भोगों में रमण करता है, इंद्रिय सुख को वास्तविक सुख मानता है। शरीर, बुद्धि, मन, इंद्रियां सुख प्राप्ति के साधन हैं, इन्हीं को आत्म तत्त्व मानना अविद्या है। चेतन आत्मा का स्वरूप शुद्ध है, विकार रहित है और वहां सुख भी वास्तविक है। अज्ञानतावश उस शुद्ध तत्त्व को भुलाकर अनित्य, जड़ शरीर को सत्य समझना, उसे वास्तविक समझना, उसे आत्म तत्वा समझना, उसे चेतन तत्त्व समझना अनात्मा में आत्मा का ज्ञान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.2.2 अस्मिता

अस्मिता का अर्थ है मैं, मेरापन का भाव। अस्मिता क्लेश को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

दृग्दर्शनशक्यतोरेकात्मतेवास्मिता। दृक्शक्ति और दर्शन शक्ति में एकात्मकता की अनुभूति हो जाना अस्मिता है। हमारे भीतर दो प्रकार की शक्तियां हैं दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति। दृक्शक्ति है द्रष्टा, देखने वाला अर्थात् पुरुष और दर्शन शक्ति अर्थात् दिखाने वाली बुद्धि या चित्त। पुरुष तो चेतन है, निष्क्रिय है, अपरिणामी है, स्वामी है। इसके विपरीत चित्त जड़ है, सक्रिय है, परिणामी है और नौकर है। अतः यह स्पष्ट है कि इन दोनों का अस्तित्व भिन्न–भिन्न है, दोनों पृथक् हैं और दोनों विलक्षण हैं। इसलिए ये कभी एक नहीं हो सकते हैं लेकिन अज्ञानतावश दोनों में अभेद का भान रहता है। यह अभेदता का भान होना ही अस्मिता है। इसे हृदयग्रंथि भी कहा गया है। दूसरे शब्दों में शरीर स्थित उच्च चेतना का शरीर, बुद्धि, मन और इंद्रियों के माध्यम से अभिव्यक्ति अस्मिता है। कठोपनिषद् में शरीर को रथ, इंद्रियों को घोड़े, बुद्धि को चालक और मन को लगाम बताया है। ऐसे रथ में आत्मा बैठी हुई जो मात्र ज्ञाता–द्रष्टा है, तटस्थ है और निष्क्रिय है। उसकी सारी शक्ति बुद्धि, मन आदि के हाथों में स्थानान्तरित हो जाती हैं। इससे ऐसा ज्ञान होता है कि आंखें देखती हैं, कान सुनते हैं, मन सोचता–विचारता है आदि–आदि। यह भी सत्य है कि आत्मा अथवा चेतना के कारण ही आंखें देखती हैं, कान सुनते हैं, जिह्वा स्वाद लेती है, मन सोचता–विचारता है, चिंतन–मंथन करता है आदि। अतः उच्च शक्ति की अभिव्यक्ति चित्त के माध्यम से होने के कारण ही मैं और मेरेपन का बोध होता है और अंततः इसकी परिणति राग के रूप में होती है।

3.2.3 राग

राग का अर्थ सुखात्मक अनुभूति, प्रियता की अनुभति। राग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

सुखानुशयी रागः। सुख भोगने के बाद उसके पीछे रहने वाला क्लेश राग है। किसी विषय को देखने, सुनने या स्वाद लेने पर उसकी सुखद अनुभूति होना एक बात है और पुनः उसे बार–बार भोगने की वृत्ति या चित्त में पुनः सुख को भोगने की इच्छा का रहना अलग बात है। अतः यह बार–बार सुख भोगने की इच्छा का होना राग है। मनोनुकूल विषयों के प्रति ही राग होता है। इसमें विषय के प्रति प्रियता रहती है, आकर्षण बना रहता है, आसक्ति बनी रहती है। चित्त में विषय के प्रति प्रियता के जितने ही अधिक संस्कार पड़े होंगे, राग की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। इंद्रियां अनेक विषयों के संपर्क में आती हैं लेकिन यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी के प्रति राग भाव ही उत्पन्न हो। राग उन्हीं के प्रति होता है जो अधिक सुखकर होते हैं, अधिक प्रसन्नता देने वाले होते हैं, जो अधिक प्रिय होते हैं। चित्त इन्हें पाने के लिए उद्वेलित रहता है, अशांत रहता है, चिंतित रहता है। इन्हें पाने के बाद फिर इनका वियोग भी उसे पसंद नहीं होता है। अतः इस राग के कारण ही कई तरह के कर्मबंधन होते हैं। अतः ऐसे रागात्मक पदार्थ या ऐसे विषय साधक को आगे नहीं बढ़ने देते हैं। एक ओर साधना के अभ्यास के दौरान भी विषयों या पदार्थों के प्रति आसक्ति का भाव होने से वह साधक को विचलित कर सकती है। इसके अतिरिक्त साधना पथ में अनेक सिद्धियां होती है। यदि साधक इनके प्रति रागात्मक दृष्टि रखता तो भी आगे नहीं बढ़ सकता है। अतः साधना मार्ग में जाने से पूर्व विषय भोगों की आसक्ति और साधना पथ में यात्रा के दौरान हुए सुखद अनुभवों के प्रति रागात्मक वृत्ति साधना पथ में एक क्लेश है। साधना का पथ भोग का नहीं अपितु त्याग का है। अतः यहां स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने हेतु कई विषयों से वियोग करना होता है, राग हटाना होता है तभी अंततः योग होता है।

3.2.4. द्वेष

द्वेष का अर्थ है दुःखात्मक अनुभूति, अप्रिय अनुभूति। इसे स्पष्ट करते हुए कहा है–**दुःखानुशयी द्वेषः।** दुःख की अनुभूति के पीछे रहने वाला क्लेश ही द्वेष है। यों भी कह सकते हैं कि पीड़ा अथवा दुःख से पलायन का भाव ही द्वेष है। प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न दुःखानुभूति साधक को विषय भोगों से दूर हटाती है क्योंकि दुःख के पीछे अनासक्ति का भाव होता है, विकर्षण का भाव होता है, घृणा का भाव होता है जिससे व्यक्ति अथवा साधक उनसे दूर होना चाहता है। अतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दुःखानुभूति कराने वाले विषय या पदार्थों में विकर्षण का भाव होता है, द्वेष का भाव होता है। ऐसे विषय चित्त को अस्थिर रखते हैं, अशांत रहते हैं, उद्वेलित करते हैं। अतः द्वेष भी बंधनकारक है। द्वेष के कारण ही अनेक समस्याएं उत्पन्न होती है। हिंसा, असत्य, छल–कपट, अपराध आदि व्यवहार के ऐसे बाधक तत्त्व हैं जो जीवन को नर्क बना देते हैं। साधना का क्षेत्र भी कठिन है। इसमें भी चित्त की यात्रा में अनेक अनुभव अप्रियकर भी हो सकते हैं। यदि ऐसे समय में साधक इन्हें समभाव से नहीं देखता है, धैर्य नहीं रखता है या पलायन कर देता है तो मंजिल भी दूर हो जाती है।

3.2.5. अभिनिवेश

अभिनिवेश का अर्थ है जीने की इच्छा, मृत्यु का भय। इसे स्पष्ट करते हुए कहा है–

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। अपने रस से पल्लवित जीने की तीव्र अभिलाषा जो मूढ़ों में ही नहीं अपितु विद्वानों में आरूढ़ है, वह अभिनिवेश है। कहने का तात्पर्य है कि जीने की प्रबल इच्छा सामान्य व्यक्तियों में ही नहीं वरन् विद्वानों में भी होती है। अभिनिवेश तीव्र जीने इच्छा है और साथ ही मृत्यु से भय भी है। संसार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है न कि मरना। अतः प्राण रक्षा उसके जीवन का मुख्य उद्देश्य और महत्त्वपूर्ण मूल्य बन जाता है। यह सत्य भी है कि जीवन के रहते ही सब कुछ है जीवन के बिना नहीं। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि यह संसार नश्वर है, अस्थाई है। इसके उपरांत भी अभिनिवेश क्लेश बना रहता है जो अविद्या का ही परिणाम है। साधना के क्षेत्र में यह क्लेश साधक को आगे बढ़ने से रोकता है।

3.2.6 क्लेश मुक्ति का उपाय : ध्यान

क्रियायोग से तनु किए गए क्लेशों को त्यागने का उपाय है ध्यान। जैसे–**ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।** क्लेशों से तनु की गई वृत्तियों को ध्यान से त्यागा जा सकता है। अर्थात् क्रियायोग से जिन क्लेशों को निर्बल बनाया गया है, शिथिल किया है, उनके भी संस्कार चित्त में व्याप्त हैं, उन वृत्तियों को ध्यान के द्वारा दग्ध किया जा सकता है। अर्थात् जो बीज रूप संस्कार चित्त भूमि में व्याप्त रहते हैं, निमित्त मिलते ही वे प्रज्ज्वलित होने की शक्ति भी उनमें होती है। ध्यान के द्वारा उनको नष्ट किया जा सकता है। अर्थात् ध्यान के द्वारा क्लेशों का शमन किया जा सकता है।

3.3 अष्टांग योग

सूत्रकार कहते हैं–**योगांगानुष्ठानशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।** योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश तथा ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यंत हो जाता है। अर्थात् योग के आठ अंगों का मन, वचन और काया से आचरण करने से विवेकख्याति ज्ञान का विकास होता है। जैसे–जैसे साधक इन अंगों का अभ्यास करता जाता है, अज्ञान रूपी मल का निरसन होता जाता है। अंततः साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। वे आठ अंग जिनका परिणाम विवेकख्याति का विकास है, वे इस प्रकार हैं–**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांवगांनि।** यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि–ये योग के आठ अंग हैं। अतः इसे अष्टांग योग या राजयोग भी कहा जाता है। ये सभी एक समान महत्त्व रखते हैं और एक दूसरे पर आश्रित भी हैं। इन आठ अंगों में प्रथम पांच अंगों को बहिरंग योग तथा अंतिम तीन को अंतरंग योग भी कहा जाता है। बहिरंग योग का संबंध उन अभ्यासों से है जो शरीर, समाज तथा अन्य बाह्य विषय हैं और अंतरंग योग का संबंध आत्म चिंतन से है। अतः साधक को बहिरंग योग से अंतरंग योग की ओर साधना क्रमवत करनी होती है। ऐसे बहुत ही विरले साधक होते हैं जो अपने महान कर्म संस्कारों के कारण सीधे ही ध्यान की अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा सामान्य साधक को तो सीढ़ी दर सीढ़ी आगे बढ़ना होता है। तभी वह सफलता को प्राप्त कर सकता है। सूत्रकार ने इन आठ अंगों का स्वरूप भिन्न–भिन्न बताया है जिनका विवरण निम्न है–

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.3.1 यम

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सामाजिक जीवन स्वस्थ एवं सुखी हो, इस हेतु समाज में कुछ आचार संहिताएं, कुछ कर्तव्य, कुछ नियम या कुछ मूल्य निर्धारित किए जाते हैं जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक होते हैं। जब व्यक्ति मन, वचन और काया से इनका पालन करता है तो मानव ही नहीं वरन् महामानव भी बन जाता है लेकिन इनके अभाव में वही मानव दानव भी बन जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यम वास्तव में व्यक्ति के लिए ही नहीं वरन् समाज के लिए भी अति आवश्यक हैं। यमों का पालन व्यक्ति को तमोगुण से सतोगुण की ओर ले जाता है। इस सतोगुण से मानव प्राणी ही नहीं वरन् उसका व्यावहारिक जीवन भी सुखमय रहता है। व्यक्तियों के प्रति ही नहीं वरन् अन्य प्राणियों के प्रति भी आत्मौपम्य की भावना का विकास होता है। इस स्थिति में पहुंचा हुआ व्यक्ति या साधक आत्मशुद्धि के द्वारा आचार एवं व्यवहार शुद्धि में पारंगत हो जाता है। इसीलिए परंपरा भले ही कोई भी रही हो, इनका महत्त्व सभी में है। ये एक आधारशिला हैं, एक आधार स्तंभ हैं जो प्रत्येक काल में समान रूप से लागू होते हैं। अतः ये एक ऐसे मूल्य हैं तो परिवर्तनशील नहीं वरन् शाश्वत है। अर्थात् इनकी आवश्यकता थी, है और रहेगी। यमों को स्पष्ट करते हुए कहा है–

अहिंसासत्यास्तयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य यम हैं। अर्थात् ये पांच आवश्यक कर्तव्य हैं। इनका विवरण निम्न हैं–

1. अहिंसा–अहिंसा का सामान्य अर्थ है हिंसा न करना। हिंसा है किसी को कष्ट देना, दुःख देना या संताप देना आदि। ऐसे कार्य का वर्जन ही अहिंसा है। अहिंसा है किसी भी प्राणी को कष्ट न देना। इतना ही नहीं इसका सूक्ष्म अर्थ है मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को न कष्ट देना है, न किसी द्वारा दिलवाना है और न ही कष्ट देने वाले का समर्थ करना। अतः अहिंसा अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है जो एक विशिष्ट अर्थ को स्पष्ट करता है। क्षेत्र भले ही व्यक्तिगत जीवन का हो या सामाजिक जीवन का, पशु–पक्षी जगत का हो या वनस्पति जगत का, सामान्य जीवन का हो या आध्यात्मिक जीवन का, इहलौकिक हो या पारलौकिक, अहिंसा की महत्ता सदैव समान रूप से लागू होती है। कहने का तात्पर्य है कि अहिंसा जैसा मूल्य प्रत्येक प्राणी के लिए महत्त्व रखता है। सत्य है कि कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता है वरन् जीना चाहता है, दुःख नहीं वरन् सुख चाहता है। अतः अहिंसा जैसा मूल्य ही सबको त्राण दे सकता है।

यह भी सत्य है कि दो प्रकार की वृत्तियां सदैव साथ में ही रहती हैं–दैवीय और आसुरी। एक कल्याणकारी है तो दूसरी अकल्याणकारी। अतएव आसुरी वृत्ति किसी भी काल में मान्य नहीं रही है। इसीलिए इस वृत्ति पर नियंत्रण का प्रयास भी सदैव से होता ही रहा है। अतः नियम कानून बने, पुरस्कार और दंड की व्यवस्था बनी ताकि समाज व्यवस्था स्वस्थ रहे तथा प्राणीमात्र के अस्तित्व की भी रक्षा होती रहे। इस संदर्भ में यदि सामान्य जीवन में देखा जाए तो अहिंसा का वास्तविक स्वरूप तो वही रहता है पर उसका व्यावहारिक स्वरूप थोड़ा बदल भी जाता है। इसलिए व्यवहार से दिखने वाला हर कोई कार्य हिंसा ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। मुख्यतया हिंसा और अहिंसा में महत्त्वपूर्ण निर्धारक रेखा है इसके पीछे निहित उद्देश्य। क्रिया, कार्य या व्यवहार के पीछे निहित उद्देश्य यदि शुद्ध हो, सात्विक हो, परोपकारी हो, कल्याणकारी हो तो वह हिंसा नहीं है। अतः हिंसा का संबंध क्रिया से नहीं वरन् भावों से है। एक माता अपनी संतान को सुधारने हेतु दंड देती है, एक शिक्षक अपने विद्यार्थी को सुधारने के लिए भी दंड देता है, एक अपराधी को सुधारने तथा साथ ही अपराधों पर नियंत्रण के लिए कानून व्यवस्था अपराधी को दंड देती है। अतः यदि कारणवश किसी के सुधार के लिए दंड दिया जाए अथवा रोग निवारण हेतु शल्य चिकित्सा की जाए तो वह हिंसा नहीं, अहिंसा ही मानी जाती है क्योंकि इनका परिणाम शुभ होता है। अतः अहिंसा का संबंध है संवेदनशीलता से। यह भाव सामान्य व्यक्ति में हो अथवा एक साधक में, उसका सब प्राणियों के प्रति संवेदनशीलता का भाव रहेगा, आत्मवत् भाव रहेगा तो शुभ भाव से चित्त शांत, शिथिल और निर्विकार वाला बनेगा। इसका परिणाम होगा कि साधक का चित्त एकाग्रचित्त होकर अपनी अध्यात्म यात्रा में आगे बढ़ सकेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. सत्य–वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उसको मन, वचन और कर्म से उसी रूप में जानना, मानना, बोलना और आचरण में लाना ही सत्य है। इसमें आंखों से देखा हुआ, कानों से सुना हुआ, स्वाद का अनुभव आदि जो जैसा घटित हुआ हो, जैसा अनुभव हुआ हो, उसे उसी रूप में व्यक्त करना सत्य का रूप है। सत्य के भी दो रूप हैं–यथार्थ सत्य और व्यवावहारिक सत्य। व्यावहारिक सत्य में सत्य का स्वरूप थोड़ा बदल जाता है। इसीलिए कहा गया है सत्य बोलो, प्रिय बोलो लेकिन अप्रिय सत्य मत बोलो। सत्य तो सत्य है लेकिन उसकी प्रस्तुति का तौर तरीका यदि सम्यक् हो तो कटु बात को भी सरलता से कहा जा सकता है, समझाया जा सकता है। सामान्यतया व्यक्ति की यह कमजोरी होती है कि वह यथार्थ सत्य को प्रत्येक परिस्थिति में सुन नहीं सकता है, समझ नहीं सकता है और सहन नहीं कर सकता है। इसलिए सत्य को कटु रूप में नहीं अपितु मृदु रूप में प्रस्तुत करने से परिणाम भी अच्छा रहता है। हो सकता है इसीलिए ऐसा भी माना गया है कि जिसमें लोकहित हो, वह सत्य है और जिसमें लोकहित नहीं हो, वह असत्य है। सत्य के पीछे भी निहित उद्देश्य यदि शुद्ध हो तो सत्य का स्वरूप विकृत नहीं होता है अन्यथा सत्य होते हुए हुए भी वह विकृत हो जाता है। ऐसा भी कहा गया है कि पवित्र उद्देश्य के साथ निःस्वार्थ भाव से परोपकार के लिए बोला गया असत्य भी सत्य है। अतः इसके पीछे निहित उद्देश्य महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके विपरीत जब व्यक्ति छल–कपट से, स्वार्थ भाव से, दूसरे को कष्ट देने के उद्देश्य या अहित करने के उद्देश्य से असत्य का सहारा लिया जाता है, वहां न तो संबंधों में मधुरता रहती है और न ही जीवन में सफलता पाई जा सकती है।

कहा जाता है कि आखिर में सत्य की ही जीत होती है। इसलिए सत्य के सामने असत्य अधिक समय तक टिक नहीं सकता है। व्यक्ति अपने लिए तो सदैव सत्य का व्यवहार ही चाहता है लेकिन दूसरों के साथ भले ही वह असत्य का व्यवहार ही क्यों न करता हो, उसकी परवाह उसे नहीं रहती है। अतः सत्य एक ऐसा मूल्य है जिसके बिना न वैयक्तिक विकास संभव है, न सामाजिक जीवन सुखमय एवं शांतिपूर्ण हो सकता है। सामाजिक संबंधों के लिए सामाजिक उन्नति के लिए, सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय के लिए आवश्यक है सत्य का पालन करना। सत्य का पालन करने से अपनी शक्तियों एवं क्षमताओं का उचित दिशा में नियोजन किया जा सकेगा, किसी के अस्तित्व का हनन नहीं होगा, किसी के अधिकारों का हनन नहीं होगा, न भ्रष्टाचार होगा, न शोषण होगा, न अत्याचार होगा और न ही अपराध होंगे। ऐसी स्थिति में समाज व्यवस्था तो स्वस्थ बनेगी ही साथ ही आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग भी सरल हो जाएगा। भावात्मक शुद्धि ही तो योग के लिए आवश्यक है। अतः साधना के क्षेत्र में समाधि की अवस्था को प्राप्त करने में सत्य का भी विशेष योगदान है।

3. अस्तेय–किसी वस्तु की चोरी न करना अस्तेय है। अर्थात् मन, वचन और कर्म से अस्तेय का पालन ही वास्तव में अस्तेय के सही अर्थ को प्रकट करता है। इसके विपरीत अन्यायपूर्वक किसी के धन, द्रव्य अथवा अधिकार का हरण करना किसी के अधिकारों का हरण करना, रिश्वत लेना, पदार्थों में मिलावट करना, करों की चोरी करना, बिजली–पानी की चोरी करना आदि स्तेय अर्थात् चोरी के ही अंतर्गत आते हैं। चोरी सदैव दूसरे की वस्तुओं की होती है। अपनी अतृप्त इच्छाओं के कारण, अपने स्वार्थ पूर्ति हेतु, लोभ–लालची वृत्ति के कारण, अपनी असीमित इछाओं के कारण व्यक्ति चोरी के लिए विवश होता है। एक ओर अधिक बटोरने के लिए चोरी होती है तो दूसरी ओर अपनी मूलभूत आवश्यताओं की पूर्ति हेतु चोरी की जाती है। एक ओर अतिभाव है तो एक ओर अभाव है। यदि सब अपने–अपने हिस्से का ही ग्रहण करें, दूसरे का हक न छीनें तो न अतिभाव होगा और न ही अभाव होगा। ऐसे में अभावग्रस्त लोगों को चोरी करने के लिए भी मजबूर नहीं होना पड़ेगा।

अतः व्यक्ति जितना अधिक चोरी में लिप्त रहेगा, उसकी इच्छाओं की पूर्ति तो एक बार होती रहेगी साथ ही उसके भीतर में राग और लोभ की मनोवृत्ति भी और अधिक होती जाएगी। ये मनोवृत्तियां पुष्ट होकर अन्य संस्कारों को जन्म देती हैं। इससे व्यवहार में अनेकानेक विसंगतियां प्रकट होने लगती हैं। ऐसा व्यवहार न तो सामान्य जीवन में मान्य है और न ही साधक के लिए। साधना का पथ तो इसके विपरीत पथ है। जहां लोभ, मोह आदि जैसी वृत्तियों के लिए स्थान है और न ही चोरी जैसा घृणित कृत्य ही मान्य है। इस प्रकार की मनोवृत्ति साधना पथ में बाधक है। अतः साधक के लिए अस्तेय को आवश्यक कर्तव्य के रूप में माना है, मूल्य के रूप में माना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. ब्रह्मचर्य–ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म में रमण करना, वीर्य की रक्षा करना, मैथुनादि क्रियाओं से बचना, कामवासना से विरत रहना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का पालन साधक के लिए उपयोगी है क्योंकि इस स्थिति में साधक अपनी ऊर्जा का संरक्षण कर सकता है। अतः मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य का पालन साधक को अपने लक्ष्य तक ले जाने में सहायक बनता है। ब्रह्मचर्य का जीवन साधक की तो आवश्यकता है, अनिवार्यता है पर सामाजिक जीवन में इसका महत्त्व बहुत अधिक है। ब्रह्मचर्य पाशवी वृत्ति पर नियंत्रण स्थापित कर स्वस्थ समाज में सहयोगी बनता है। जहां अपनी कामवासना पर नियंत्रण नहीं होता है वहां पशुवत व्यवहार की होता है। इसके कारण समाज में एक असुरक्षित वातावरण बना रहता है। यौन शोषण, व्यभिचार, बलात्कार जैसी ज्वलंत समस्याएं समाज को कदापि स्वस्थ नहीं रख सकती हैं। ऐसे कार्य को दंडनीय अपराध माना जाता है। अब्रह्मचर्य जहां स्वास्थ्य एवं समाज की दृष्टि से गलत है वहीं ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य की रक्षा को करता है और स्वस्थ समाज में उपयोगी बनता है। इसीलिए समाज में ब्रह्मचर्य की सीमा का निर्धारण किया जाता है, संबंधों का निर्धारण किया जाता है। तभी गृहस्थ जीवन सुखमय बनता है, सामाजिक जीवन मैत्रीपूर्ण बनता है। एक साधक के लिए ब्रह्मचर्य का पालन उसके साधना पथ में सहायक है जो इंद्रियों को शांत रखता है, मन को एकाग्र रखता है और लक्ष्य तक पहुंचाने में सहायोगी बनता है।

5. अपरिग्रह– अपरिग्रह का अर्थ है परिग्रह न करना, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना आदि। परिग्रह के पीछे लोकहित नहीं वरन् स्वहित जुड़ा होता है। अर्थात् अपना सुख, अपना ऐश्वर्य, अपनी प्रतिष्ठा, अपना मान–सम्मान, अपनी कीर्ति, अपने भोग विलास हेतु किए गए वस्तुओं का संग्रह परिग्रह के अंतर्गत ही आता है। परिग्रह व्यक्ति को समाज से अलग करता है और अपरिग्रह समाज से जोड़ता है। अपरिग्रह को समाज और व्यक्ति के मध्य सेतु माना गया है जो दोनों को जोड़ता है। परिग्रही व्यक्ति अपने सुख के कारण समाज के सुख को नजरअंदाज करता है जिसका समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परिग्रह की भावना व्यक्ति को स्वार्थी बनाती है, संवेदनहीन बनाती है जिसका स्वस्थ समाज से कोई संबंध नहीं है। परिग्रह को पाप और अपरिग्रह को पुण्य माना गया है। अतः परिग्रह वर्जनीय है और अपरिग्रह ग्रहणीय है। परिग्रह के पीछे कई तत्त्व कार्य करते हैं जिसमें अतृप्त इच्छाएं, पदार्थ के प्रति आसक्ति का भाव, लोभी–लालची वृत्ति, पदार्थवादी दृष्टिकोण आदि प्रमुख हैं। अर्जन के साथ विसर्जन की बात जुड़ी हुई है। यदि अर्जन ही अर्जन हो और विसर्जन न हो तो वहां अनेकानेक समस्याएं उत्पन्न होने की संभावनाएं रहती हैं। अतः आवश्यकता से अधिक वस्तुओं या पदार्थ का संग्रह व्यक्ति को बंधन में डाल देता है। एक ओर संग्रह दूसरी ओर उसकी सुरक्षा के प्रति जागरूकता मानसिक रूप से संतुलित नहीं रहने देती है। यह स्थिति सामान्य व्यक्ति हो या साधक की, दोनों के लिए ही समस्याप्रद है। समस्या आवश्यक वस्तुओं के संग्रह पर नहीं वरन् अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह पर होती है। यदि सीमा का निर्धारण हो तो समस्या का स्वतः समाधान हो जाता है। एक साधक जीवन त्याग का जीवन होता है। त्याग अर्जन में नहीं अपितु विसर्जन में होता है, आसक्ति में नहीं वरन् अनासक्ति में होता है, बंधन से नहीं अपितु मुक्ति से होता है। किसी वस्तु या पदार्थ के पीछे संग्रह की वृत्ति साधक को मानसिक रूप से भी परतंत्र कर देती है। ऐसी स्थिति में वृत्ति शांत नहीं हो सकती है। जब वृत्ति ही शांत नहीं है तो योग नहीं अयोग ही होगा। पदार्थ के साथ तो योग हो सकता है पर शुद्ध चेतना के साथ नहीं। इसलिए योग के क्षेत्र में अपरिग्रह को भी एक मूल्य के रूप में माना गया है जो साधक को मानसिक स्वतंत्रता प्रदान कर सके।

यम महाव्रत हैं– यमों को महाव्रत कहा गया है। व्रत है एक शुभ संकल्प। जब यही व्रत सभी परिस्थितियों में समान रूप से लागू किए जाते हैं तो ये महाव्रत कहलाते हैं। महाव्रत को स्पष्ट करते हुए कहा है –**जातिदेशकालसमयानवछिन्नाः सर्वभौमा महाव्रतम्।** जाति, देश काल और समय से अविछिन्न सार्वभौम होने पर यम महाव्रत हो जाते हैं। अर्थात् ये किसी भी जाति, किसी भी देश या किसी भी समय में समान रूप से लागू होते हैं। कहने का तात्पर्य है कि प्रत्येक परिस्थिति में इनका स्वरूप समान रूप से बना रहता है। कई बार व्यक्तिगत या बाह्य परिस्थितियों के कारण इनका पालन असंभव ही नहीं अपितु कठिन भी हो जाता है। यदि ऐसे समय में इनका पालन न किया जाए तो ये महाव्रत की श्रेणी में नहीं आते हैं। इनके लिए कोई बाधक बन नहीं सकता है। ये सबसे अबाधित है। इसीलिए तो सभी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के लिए ये संभव नहीं होते हैं। इनका पालन वही कर सकता है जिसका संकल्प सुदृढ़ हो, जिसका मनोबल अच्छा हो, जिसमें आत्मविश्वास हो, जो परिस्थितियों के थपेड़ों में न झूलता हो, जो अभय हो, शरीर और मन से स्वस्थ हो, जिसमें आत्मानुशासन हो आदि। अतः एक नहीं वरन् अनेक तत्त्व इसके पीछे कार्य करते हैं। जब ये तत्त्व अनुकूल होते हैं तो इन यमों का पालन करना भी सरल हो जाता है लेकिन समस्या तब आती है जब परिस्थितियां प्रतिकूल होती हैं। जो प्रतिकूल या विषय परिस्थितियों में भी इनका पालन करता है वही वास्तव में महाव्रती होता है। अतः न तो इन पर किसी जाति विशेष का ही प्रभाव पड़ता है और न ही देश या स्थान विशेष, न किसी काल का प्रभाव पड़ता है और न ही समय विशेष का। इन चारों स्थितियों में ये अपनी समान महत्ता बनाए रखते हैं। इसमें मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं किया जाता है, नियमों के पालन में कोई शिथिलता नहीं आने दी जाती है, नियत नियमों का पालन मन, वचन और कर्म से किया जाता है। इसीलिए व्रत नहीं, महाव्रत कहलाते हैं।

3.3.2 नियम

जीवनशैली को व्यवस्थित करने के लिए नियमों का पालन भी आवश्यक हो जाता है। नियमों का संबंध वैयक्तिक जीवन से अधिक है जिसका प्रभाव व्यक्ति ही नहीं वरन् समाज पर भी अवश्य पड़ता है। नियमों को निरूपित कर सूत्रकार ने लिखा है–**शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।** शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं।

1. शौच–शौच का अर्थ है शुद्धि। शौच दो प्रकार का होता है–बाह्य और आंतरिक। ब्राह्य शौच के अंतर्गत शरीर, वस्त्र, स्थान, पात्र आदि को मिट्टी अथवा जल से शुद्ध करना और आंतरिक शौच के अंतर्गत कलुषित भावों–ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, द्वेष आदि को त्यागना सम्मिलित है। यदि शरीर की बाह्य एवं आंतरिक शुद्धि होती है तो शरीर निरोगी बना रहता है। यों तो शरीर से अनेक मलों का निष्कासन प्राकृतिक तरीके से होता रहता है चाहे फिर वह चमड़ी के माध्यम से हो या या अन्य अंगों द्वारा, पसीने के रूप में हो या मल–मूत्र अथवा कफ आदि के रूप में। घर्षण, उबटन या स्नान शरीर की बाह्य शुद्धि में सहायक होता है। इसी प्रकार शरीर के भीतरी अंगों यथा श्वसन और पाचन संस्थान की शुद्धि विशेष महत्त्व रखती है। इनके द्वारा शरीर के विजातीय द्रव्य निष्कासित होते हैं। हठयोग की शुद्धि क्रियाएं इस उद्देश्य की पूर्ति ही नहीं करती हैं वरन् साधना के उच्च सोपानों से भी परिचय करवाती हैं। अतः शरीर से विजातीय द्रव्य यथा मल, मूत्र, वात, चित्त, कफ, पसीना आदि निष्कासित होता रहे तो शरीर स्वस्थ रहता है। शरीर स्वस्थ है तो मन को स्वस्थ रहने में भी स्वतः सहायता मिल जाती है। कहा भी है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। अतः शरीर की शुद्धि आवश्यक ही वरन् अनिवार्य भी है। शरीर शुद्ध होने पर ही शरीर की जड़ता, उसमें स्थित तमोगुण, आलस्य, प्रमाद जैसे बाधक तत्त्वों से निजात पाया जा सकता है। इसके साथ ही आसपास का स्थान भी शुद्ध होना चाहिए। वस्त्र, बर्तन आदि की शुद्धता भी शारीरिक स्वास्थ्य को ही नहीं वरन् मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है। अतः बाह्य शौच स्वास्थ्य के लिए ही नहीं अपितु साधना के लिए भी आवश्यक है। स्वास्थ्य अनुकूल होने पर ही साधना का क्रम सुचारु रूप से चलता है।

आंतरिक शौच जहां शरीर के आंतरिक अंगों की स्वच्छता में सहायक बनता है वहीं आंतरिक शौच का संबंध भावों एवं विचारों से भी है। शरीर की गंदगी दूर करने के कई साधन हो सकते हैं और इसे किया भी जा सकता है पर भाव शुद्धि, विचार शुद्धि अपने आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण ह और कठिन भी है। भावों की अशुद्धि मानसिक एवं भावात्मक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव तो डालती ही है पर शरीर पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या आदि की गांठें जब मजबूत हो जाती हैं तब कर्म भी उसी के अनुसार संपादित होते हैं। ऐसा होने पर साधना का क्षेत्र कहीं पीछे रह जाता है। इन द्वंद्वों के रहने से बंधन ही बधन होता है। बंधन ही योग मार्ग का शत्रु है। अतः इस बंधन रूपी पाश से मुक्त होना स्वास्थ्य के लिए ही नहीं अपितु साधना के लिए भी अति आवश्यक है।

2. संतोष–संतोष का अर्थ है सामर्थ्यानुसार उचित कर्म से मिलने वाले फल के लिए प्रसन्न रहना। अर्थात् पुरुषार्थ के पश्चात् मिलने वाली उपलब्धि की अवस्था में संतुष्ट रहना तथा तृष्णा को त्याग देना संतोष है। जीवन में संतोष का होना बहुत ही आवश्यक है। मनुष्य की इच्छाएं अनंत हैं जिनकी पूर्ति कभी भी संभव नहीं हो सकती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसीलिए चयन की आवश्यकता होती है कि क्या प्राथमिक है और क्या द्वितीयक। जो आवश्यक है उसे प्रमुखता दी जानी चाहिए। इस आवश्यकता की पूर्ति होने पर संतोष का भाव भी होना चाहिए। भले ही कितना ही अर्जन किया जाए, कितनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति की जाए पर संतोष के अभाव में उस अर्जन का, उस प्राप्ति का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। असंतोष व्यक्ति को मानसिक रूप से प्रसन्न नहीं रख पाता है। जब मानसिक प्रसन्नता ही नहीं है तो किसी चीज का मूल्य भी अधिक नहीं रह जाता है। संतोष जहां किसी को मूल्य प्रदान करता है तो वहीं असंतोष निराशा और अप्रसन्नता का द्योतक है।

क्षेत्र भले ही सामान्य जीवन का हो अथवा साधना का, संतोष के बिना प्रसन्नता का भाव नहीं आ सकता है। संतोष व्यक्ति को निकम्मा नहीं बनाता है वरन् प्रसन्नतापूवर्क आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। यदि एक साधक अपनी साधना में संतुष्ट नहीं है तो आगे नहीं बढ़ सकता है। दूसरी ओर उसने साधना में जो प्राप्त किया, जो अनुभूतियां हुईं, उनमें संतुष्ट होते हुए वह आगे बढ़ता है तो वह सफल भी होता है। इसीलिए साधक के जीवन में संतोष का अपना विशेष महत्त्व है जिसका संबंध मानसिक प्रसन्नता से है। मानसिक प्रसन्नता ही साधक को आगे बढ़ने में सहायक बनती है।

3. तप–तप का अर्थ है तपाना, धर्माचरण करते हुए इंद्रियों आदि को वश में रखना। इससे चित्त द्वंद्वों को सहने में सक्षम हो जाता है। इंद्रियां अपने विषय भोगों में रमण करती हैं, मन उसमें सहायक होता है। यह रमण यदि सकारात्मक हो तो समस्या नहीं होती है। इसके विपरीत यदि रमण नकारात्मक हो तो इससे व्यक्ति असंयमी बन जाता, है, उच्छृंखल बन जाता है, उद्दंड बन जाता है और दीन–हीन बन जाता है जिससे जीवन में अनेक विकृतियों को उभरने का अवसर मिल जाता है। अतः तप अनावश्यक इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं वृत्तियों पर अंकुश लगाने का शसक्त माध्यम है। इससे ऊर्जा का अनाश्यक व्यय एवं मन का अनावश्यक भ्रमण भी रुक जाता है। जैसे धातुओं को शुद्ध करने हेतु उसे अग्नि में तपाया जाता है, वैसे ही इंद्रिय, मन आदि जड़ तत्त्वों को भी तप की अग्नि में तपाया जाता है जिससे उनमें निखार आता है। परिणामस्वरूप वे सद्वृत्तियों में लगे रहते हैं। अतः तप के द्वारा अपनी अनावश्यक एवं असद् वृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित कर सद्मार्ग का अनुसरण किया जाता है। एक साधक का जीवन तो तप का जीवन होता है तभी तो वह तपस्वी कहलाता है क्योंकि वह अपनी इंद्रियों, मन आदि पर कठोर अनुशासन रखता है जिससे वे अपने विषय भोगों से धीरे–धीरे उपरत होती रहें। एक समय ऐसा भी आता है कि साधक के लिए पदार्थों का, विषय भोगों का उतना ही मूल्य रहता है जितना कि जीवन यापन के लिए या साधना के लिए आवश्यक है।

तप के अनेक प्रकार हो सकते हैं जिसके अंतर्गत उपभोग की वस्तुओं का सीमाकरण, उपवास, अनुष्ठान, मौन, संकल्प, ध्यान साधना आदि प्रमुख हैं। तप के ये प्रयोग किसी न किसी वृत्ति पर नियंत्रण स्थापित करने में अपनी अहम् भूमिका अदा करते हैं। जब नियंत्रण का अभ्यास हो जाता है तब मन सच्चे सहयोगी की तरह साथ देने लगता है। ऐसी स्थिति में सभी प्रकार के भटकावों, द्वंद्वों आदि से सरलतापूर्वक बचा जा सकता है। अतः मन, वचन और कर्म से तप का अभ्यास साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनता है।

4. स्वाध्याय–स्वाध्याय का अर्थ है स्व का अध्ययन, आत्मसंबंधी ज्ञान का अध्ययन, तत्संबंधी वेदादि ग्रंथों का अध्ययन करना आदि। अतः इसमें दो प्रकार के अध्ययन सम्मिलित हैं जिसमें एक है अपनी वृत्तियों, अपने संस्कारों, अपनी आदतों, अपनी शक्तियों, क्षमताओं, व्यवहार अर्थात् अपने गुण–दोषों आदि का आंकलन करना ताकि सुधार के लिए प्रयास किया जा सके। दूसरा है सद्ग्रंथों का अध्ययन जिसमें व्यक्ति वास्तविक सत्य को समझकर उस ओर चलने के लिए प्रेरित हो सके या प्रयास कर सके। दोनों ही अर्थ सद्मार्ग पर चलने के लिए दिशा निर्देशक हैं। जीवन में आगे बढ़ने के लिए स्वाध्याय आवश्यक है। जब तक स्वयं का आंकलन नहीं होगा तब तक सुधार की बात भी संभव नहीं हो सकती है। अतः एक सामान्य व्यक्ति हो या साधक, स्वाध्याय की आवश्यकता दोनों को है। साधक के लिए यह नियम के रूप में निरूपित किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के लिए स्वाध्याय आवश्यक है। स्वाध्याय करते–करते साधक अपने को उस स्थिति में पाता है जहां निंदनीय कर्मों के प्रति उसमें निराशा का भाव होता है। अर्थात् तिरस्कृत और निदंनीय कर्मों की वह अवहेलना करता है और सद्मार्ग का अनुसरण करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. ईश्वरप्रणिधान–ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर की भक्ति अर्थात् फल सहित सभी कर्मों को ईश्वर को समर्पित करना। मन, वचन और से जब उस परम तत्त्व के प्रति समर्पण हो जाता है तो विकार भी स्वयं समाप्त हो जाते हैं। हमारा सारा व्यवहार राग–द्वेष के आधार पर चलता है। अज्ञानतावश राग तो होता है पदार्थों के प्रति और द्वेष होता है वास्तविक सत्य के प्रति। पदार्थ जगत क्षणिक सुख का जगत है, बंधन का जगत है। इसमें से निकलना भी आसान कार्य नहीं है। जब विषय भोगों के प्रति आसक्ति प्रगाढ़ होती है तो क्या नैतिक और क्या अनैतिक, किसी का भान नहीं रहता है। जैसे नशा करने वाला अपनी सुध–बुध खो देता है वैसे ही विषय भोगों के नशे में चूर व्यक्ति जीवन भर कोल्हू के बैल की तरह पिसता रहता है। जब वही वृत्ति सद् उद्देश्य के प्रति रूपांतरित हो जाती है तब दिशा ही नहीं बदलती है वरन् दशा भी बदल जाती है।

परम सत्ता के नाम, रूप, लीला, गुणों आदि का कीर्तन, भजन, श्रवण, मनन, चिंतन आदि श्रेष्ठ वृत्तियों एवं सद्विचारों के द्वारा किया जा सकता है। यही शरणागति है। जब परम सत्ता से जुड़ने का स्वाद लग जाता है, उस आनंद विशेष में रस आने लगता है तो फिर भौतिक जगत का स्वाद फीका पड़ने लगता है, विषय भोगों के प्रति अनासक्ति का भाव उत्पन्न होने लगता है। तब साधक भीतर से अनेक उलझनों से, अनेक द्वंद्वों से अनेक समस्याओं से स्वयं को रिक्त अनुभव करता है। जहां रिक्तता है वहीं परम आनंद भी है। अतः परम सत्ता में मन, वचन और कर्म से स्वयं को जोड़ना या उस ओर स्वयं को मोड़ना अनेक बंधनों से मुक्त होना है।

उपरोक्त विवचन से स्पष्ट है कि यम–नियम साधना पथ की आधार भूमि है। इनके अभाव में योग की उच्च भूमिकाओं को कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता है। यदि आचार संहिता नहीं है, जीवन में मूल्य, मानक नहीं हैं, नियम नहीं हैं अर्थात् विचारशुद्धि नहीं है तब योग है ही नहीं है। आचार–विचार शुद्धिहीन क्रियाएं या कर्म कभी भी आत्माराधाना में सहयोगी नहीं बन सकते हैं। जब सकुंचित सत्ता व्यापक सत्ता में मिलती है तो उसके लिए आचार–विचार शुद्धि ही सबसे पहली आवश्यकता है, अनिवार्यता है, अपरिहार्यता है। तभी समाधि रूपी शिखर पर पहुंचा जा सकता है।

बाधाओं का निवारण प्रतिपक्ष भावना से–यदि इन यम नियमों के पालन में कोई बाधा उत्पन्न हो तो उसके लिए भी सूत्रकार उपाय बताते हैं–**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्** –यम और नियमों में वितर्क द्वारा बाध होने पर प्रतिपक्ष भावना करनी चाहिए। अर्थात् जो वितर्क इन यम नियमों के पालन में बाधा उत्पन्न करते हैं, उनका उपचार प्रतिपक्ष भावना है। उस वितर्क के विपरीत भावना इनके पालन में सहायक बनती है। अर्थात् हिंसा की भावना को दया की भावना के द्वारा, विषय भोग की भावना को अनासक्ति के द्वारा जीता जा सकता है। साधनाकाल में साधक के समक्ष अनेक विघ्न उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक साधक के अपने कर्म सस्कार हैं। उसी के अनुसार उसका चित्त उनसे प्रभावित होता है। यह स्थिति साधना के लिए अहितकर है। अतः इसके प्रतिकार की बात कई है। प्रतिपक्ष अथवा विपरीत भावना के द्वारा अशुभ भावनाओं को समाप्त किया जा सकता है। इससे यम नियमों का पालन आसान हो जाएगा।

इन वितर्कों के स्वरूप को सूत्रकार ने स्पष्ट किया है–

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वकामृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।
यम–नियमों के विरोधी भाव वितर्क कहलाते हैं जो स्वयं किए हुए, करवाए हुए और अनुमोदित किए हुए हों। ये लोभ, क्रोध और मोह कारण वाले हैं, मृदु, मध्य और अधिमात्र भेद वाले होते हैं। इनका फल अत्यधिक दुःख और अज्ञान होता है। इसलिए प्रतिपक्षक का विचार कर इन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इन वितर्कों की प्रतिपक्ष भावना से निर्मल चित्त यम नियमों के अभ्यास करने के पश्चात् इनके फलों को देने में समर्थ हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यम–नियमों का परिणाम

जब यम–नियम आचार संहिता के रूप में निर्दिष्ट किए गए है तो इनके परिणाम भी सुखद ही होंगे। सूत्रकार ने इन परिणामों को स्पष्ट करते हुए कहा है–

1. अहिंसा का परिणाम–अहिंसा का परिणाम है– **अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।** अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाने पर साधक के समक्ष सब प्राणियों का वैर भाव समाप्त हो जाता है। अर्थात् जिस साधक में अहिंसा का भाव प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके प्रति किसी भी प्राणी का वैर भाव नहीं रह जाता है। सब उसके मित्रवत् हो जाते हैं। प्राणी के अस्तित्व की रक्षा का यदि कोई सशक्त माध्यम है तो वह है अहिंसा। अहिंसा ही किसी को त्राण दे सकती है, अहिंसा ही किसी को प्राण दे सकती है। अहिंसा के प्रतिष्ठित होने पर ही साधक के भीतर प्रेम, दया, करुणा मैत्री, परोपकार, अभयदान, सह–अस्तित्व आदि गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसका आचार–विचार और व्यवहार अहिंसामय बन जाता है। तब उसके सान्निध्य में आने वाले प्राणी भी अभय का अनुभव करते हैं, सुख का अनुभव करते हैं। अतः अहिंसा का फल वैरत्याग अथवा मैत्री के रूप में मिलता है।

2. सत्य का परिणाम –सत्य का परिणाम है –**सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।** सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर क्रिया फल का आश्रय बनती है। अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर सभी कार्यों का उचित फल मिलने लगता है। जब साधक सत्य की साधना में भली प्रकार प्रतिष्ठित हो जाता है, देश, काल, परिस्थितियां आदि उसे कोई विचलित नहीं कर पाते हैं तब उसके भीतर एक दिव्य बुद्धि का विकास होने लगता है। इससे वह सभी कर्मों का इच्छित फल प्राप्त करने में सक्षमता प्राप्त कर लेता है। सामान्यतया कर्मों के फल हमारी इच्छा या अनिच्छा से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई विशेष संबंध नहीं रखते हैं लेकिन ऐसी स्थिति में यह नियम लागू नहीं होता है। दूसरी ओर जब उसकी वाणी से कभी असत्य नहीं निकलता है तो उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। अर्थात् जो वह कहता है, उसका फल मिल जाता है। सत्य की प्रतिष्ठा करते–करते उसकी वाणी इतनी निर्मल हो जाती है कि उसकी वाणी क्रिया रूप में फल देने लगती है। कहने का तात्पर्य है सत्य की प्रतिष्ठा से एक तो सभी कर्मों का उचित फल मिलने लगता है और दूसरा उसकी वाणी सत्यनिष्ठ हो जाने रो वचनसिद्धि हो जाती है।

3. अस्तेय का परिणाम–अस्तेय का परिणाम है–**अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्।** अस्तेय प्रतिष्ठित हो जाने पर सब रत्नों की प्राप्ति हो जाती है। अस्तेय चोरी न करना, अर्थात् राग का विलोपन होना। जो साधक इस राग को समाप्त कर लेता है तो अस्तेय स्वतः प्रतिष्ठित हो जाता है। इसके प्रतिष्ठित होने पर वह सर्व संपत्ति का स्वामी हो जाता है। ऐसा भी माना जाता है कि ऐसे साधक के लिए रत्नगर्भा पृथ्वी भी अपने रत्नों के द्वार खोल देती है। चोर से सदा भय रहता है। अतः मालिक अपने सामान की सुरक्षा करता है। जब चोर ही नहीं रहेगा, पदार्थ के प्रति उसकी आसक्ति ही नहीं रह जाएगी तो असुरक्षा का भाव नहीं वरन् सुरक्षा स्वतः स्थापित हो जाती है। अतः एक ओर मालिक को कोई भय भी नहीं रह जाता है दूसरी ओर अस्तेय प्रतिष्ठित व्यक्ति के सामने सभी रत्न उपस्थित हो जाते हैं। इसके पीछे निहित कारण है कि साधना करते–करते अनेक अतीन्द्रिय क्षमताएं प्रकट होने लगती हैं। उन्हीं से साधक को अपने आस–पास में भूगर्भ स्थित रत्नों आदि का ज्ञान भी हो जाता है। सामान्य व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं होता है। अतिसामान्य व्यक्ति ही अपनी साधना के बल पर ऐसी क्षमताओं को अर्जित कर सकता है।

4. ब्रह्मचर्य का परिणाम– ब्रह्मचर्य का परिणाम है –**ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।** ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्य लाभ होता है। वीर्य ही सब शक्तियों का मूल कारण माना जाता है। यह नष्ट होता है तो व्यक्ति शक्तिहीन एवं पराजित हो जाता है। यदि इसे रोका जाए, इसकी सुरक्षा की जाए तो शक्ति, साहस, प्रसन्नता आदि का स्वतः विकास होने लगता है। वीर्य ही जीवनी शक्ति है। यही जीवन का सत् है। ऐसा माना जाता है कि रक्त की चालीस बूंदों से एक बूंद वीर्य का बनता है। वैज्ञानिकों ने इसे विभिन्न हॉरमोन्स का स्राव माना है। साधना की दृष्टि से वीर्य रक्षा का बहुत महत्त्व है। इसी से साधक ऊर्ध्वरेता बनता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. अपरिग्रह का फल– अपरिग्रह का परिणाम है–**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथांतरसंबोधः।** अपरिग्रह की प्रतिष्ठा होने पर जन्म से संबंधित जिज्ञासा और आनुमानिक ज्ञान का लाभ हो जाता है। अर्थात् पूर्व जन्म, वर्तमान जन्म तथा पुनर्जन्म से संबंधित ज्ञान हो जाता है। साधक के लिए सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या आदि क्लेश आदि को माना गया है। इसके त्यागने से उसका चित्त निर्मल बन जाता है। इसके अतिरिक्त भी सांसारिक भोग विलास की वस्तुओं के प्रति भी राग के समाप्त होने से साधक निर्मल बन जाता है। राग के खत्म होने से स्वामित्व का भाव भी स्वतः चला जाता है। अस्तित्व के लिए आवश्यक वस्तुओं को ही वह अपने पास रखता है। इसके अतिरिक्त सभी सुख सुविधाओं की वस्तुओं से स्वयं को वंचित कर लेता है क्योंकि यह उसके लिए आवश्यक है। अतः इस त्याग की भावना से, इस अनासक्ति की भावना से और इस निर्मलता से वह भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान करने में सक्षम हो जाता है।

6. शौच का परिणाम–शौच का परिणाम है–**शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।** शौच से अपने के अंगों से घृणा और दूसरे के संसंग का अभाव होता है। शौच के निरंतर अभ्यास से आत्मिक शुद्धि तो होती ही है साथ ही साधक अपने शरीर से घृणा भी करने लगता है। वह मानने लगता है कि इस शरीर में अपवित्रता है। मल, मूत्र, कफ, रुधिर आदि अशुद्धियों का यह जन्म स्थान है। अतः अनेक प्रकार के मल उसके शरीर में विद्यमान हैं। मानव शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन है। अतः इसकी रक्षा करना उसका कर्तव्य है। इसके विपरीत जब साधक अपने शरीर के प्रति आसक्त होता है तो वह आसक्ति साधना में बाधा उत्पन्न करती है क्योंकि आसक्ति के कारण शरीर की सुन्दरता पर उसे सुख की अनुभूति होती है। इस कारण अधिकाधिक समय इसे सुन्दर बनाने में व्यतीत होता है। आत्मनिरीक्षण के लिए उसके पास समय का अभाव रहता है। आसक्ति के कारण शरीर के प्रति स्वस्वामी भाव भी पैदा होने लगता है। शौच के निरंतर अभ्यास से शरीर के दोषों को देखते–देखते शरीर के प्रति राग और ममत्व का भाव छूट जाता है साथ ही साधक का दूसरों के साथ संसर्ग भी नहीं रहता है क्योंकि दूसरों के शरीर के प्रति भी उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती है।

इसके अतिरिक्त भी शौच के सुपरिणाम हैं– **सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्यैन्द्रियजयात्मदर्शनोयोग्यत्वानि च।** अंतःकरण की शुद्धि से मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इंद्रिय नियंत्रण तथा आत्मा दर्शन की योग्यता का विकास होता है। शौच के द्वारा जब अंतःकरण की शुद्धि होती है अर्थात् चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार शुद्ध हो जाते हैं तो इनसे संपादित होने वाली सभी क्रियाएं भी सद् ही होती हैं। तब तमोगुण और रजोगुण कहीं विलीन हो जाते हैं बस सतोगुण का ही प्रभाव रहता है। अतः ऐसी स्थिति में मन की प्रसन्नता, मानसिक एकाग्रता, इंद्रिय नियंत्रण तथा आत्मा–परमात्मा को जानने की योग्यता विकसित होती है। इस प्रकार शौच का अभ्यास साधक को साधना पथ पर अग्रसर करने में उपयोगी सिद्ध होता है।

7. संतोष का परिणाम– संतोष का परिणाम है–**संतोषादनुत्तमसुखलाभः।** संतोष का पालन करने समस्त सांसारिक सुखों में उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। अर्थात् संतोष से अनिवर्यनीय सुख की प्राप्ति होती है। जब व्यक्ति अथवा साधक को अपने पूर्ण पुरुषार्थ से होने वाली उपलब्धियों से अधिक की इच्छा नहीं रहती है तो उसे अत्युत्तम सुख की प्राप्ति होती है। संसार की प्रत्येक वस्तु में वह सुख को क्षणिक रूप से देखता है। अतः इससे उनके प्रति तृष्णा का अभाव होने लगता है। यह तृष्णारहित अवस्था का सुख इतना महान होता है कि विषय भोगों का सुख उसके समक्ष गौण हो जाता है। अर्थात् तृष्णारहित सुख की वास्तविक तुलना सांसारिक सुख से नहीं की जा सकती है। संतोष का पालन करने से व्यवहार में सुख की प्राप्ति होती है और दुःख की निवृत्ति होती है। किसी हानिकारक घटना के घट जाने पर भी वह दुःखी नहीं होता है अथवा अल्प मात्रा में दुःखी होता है। अतः संतोष का पालन योगाभ्यास में तो उपयोगी है ही साथ ही व्यवहार शुद्धि में भी सहायक है।

8. तप का परिणाम– तप का परिणाम है–**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।** तप के द्वारा अशुद्धि के क्षय होने से शरीर और इंद्रियों की शुद्धि होती है। अर्थात् तप के द्वारा शारीरिक अशुद्धियां जैसे वात, पित्त, कफ से संबंधित दोषों से उत्पन्न अनेक विकारों का शमन होता है। रजोगुण तथा तमोगुण के उत्पन्न दोष दूर होते हैं। अर्थात् अति चंचलता, आलस्य, प्रमाद आदि दूर होते हैं अन्यथा ये साधना में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए तप के अभ्यास से इन समस्त विकारों को दूर कर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शरीर और इंद्रियों को शुद्ध बनाया जाता है। शरीर और इंद्रियों के विकार ही साधक के लिए बाधक हैं। तप के द्वारा शरीर पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है अर्थात् इसे साधनानुकूल बनाया जा सकता है और इंद्रियों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। शरीर को साधने से अधिक समय तक योगाभ्यास करने में सहायता मिलती है तथा द्वंद्वों को सहने की शक्ति भी आ जाती है। शरीर शुद्ध, बलवान, स्वस्थ, लचीलापन लिए हुए आदि विशेषताओं से युक्त बनता है। इंद्रियों पर नियंत्रण स्थापित हो जाने पर उनको अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण वाले कार्यों में लगाया जा सकता है। इससे साधक मानसिक दुःखों से दूर रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह विषय वासनाओं को दुर्बल कर उन्हें दग्धबीज भाव की अवस्था में ले जाने हेतु सक्षम हो जाता है।

9. स्वाध्याय का परिणाम–स्वाध्याय का परिणाम है–**स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः।** स्वाध्याय से इष्ट देवताओं का साक्षात् होता है। अर्थात् स्वाध्याय के निरंतर अभ्यास से चित्त इष्ट से एकत्व स्थापित कर लेता है। वह इतनी मानसिक एकाग्रता प्राप्त कर लेता है कि वह अपने इष्ट विषय पर एकाग्रता साध सकता है, मन को एकाग्र करने में सक्षमता हासिल कर लेता है। इसी का परिणाम होता है कि वह ईश्वर के प्राप्ति में समर्थ हो जाता है। अध्यात्म संबंधी ग्रंथों को पढ़ते–पढ़ते साधक का आचरण भी उन्हीं के अनुकूल होने लगता है। सदाचरण के द्वारा ईश्वर का साक्षात् संभव हो जाता है।

10. ईश्वरप्रणिधान का परिणाम– ईश्वर प्रणिधान का परिणाम है–**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।** ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। ईश्वर प्रणिधान अथवा ईश्वर भक्ति से समाधि की प्राप्ति होती है। संपूर्ण कार्यों और उसके फलों को ईश्वर में समर्पित कर देने से सारे विघ्न दूर हो जाते हैं जिससे शीघ्र समाधि लाभ मिलता है। ऐसा माना जाता है कि ईश्वर प्रणिधान से साधक देशान्तर, देहान्तर और कालान्तर में व्याप्त पदार्थों को जानने में समर्थ हो जाता है। साथ ही ऐसा भी माना गया है कि ईश्वर प्राणिधान से पूर्व अन्य सात यम–नियमों का पालन भी आवश्यक है क्योंकि इनके अभाव में ईश्वर प्रणिधान का लाभ प्राप्त करना आसान कार्य नहीं है। अतः ईश्वर प्रणिधान के अभ्यास से साधक समाधि को प्राप्त सकता है।

3.3.3 आसन

आसन आस धातु से बना है जिसका अर्थ बैठने के संदर्भ आता है। सूत्रकार ने आसन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–**स्थिरसुखमासनम्।** जो स्थिर और सुखदाई हो, वह आसन है। आसनों के लिए दो बातें मुख्य है–स्थिरता और सुखपूर्वक बैठना। ऐसा नहीं है कि स्थिरता तो है अर्थात् शरीर निश्चल है, अडोल है लेकिन सुख की अनुभूति का अभाव है। स्थिरता के साथ सुख की अनुभूति भी आसन के साथ सम्मिलित है। इस प्रकार ऐसी अवस्था जिसमें शरीर स्थिर और सुखयुक्त है, आसन कहलाता है। अतः जिस अवस्था में स्थिरता पूर्वक बिना कष्ट के बैठा जाए, वह स्थिति आसन है। आसन एक नहीं, अनेक हैं। साधक को जो भी आसन उचित लगे, उसी में योगाभ्यास करना चाहिए। आसनों में कुछ आसन ध्यानासन के नाम जाते हैं। जैसे सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि। इनके अतिरिक्त लेटकर, बैठकर तथा खड़े होकर करने वाले आसनों का वर्णन मिलता है। इन आसनों के अभ्यास से शरीर को साधनानुकूल बनाया जाता है।

1. आसन सिद्धि का उपाय–आसन सिद्धि का उपाय बताते हुए कहा है कि **प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्।** प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में समापत्ति हो जाने पर आसन सिद्ध होता है। अर्थात् शारीरिक चेष्टाओं को रोकने तथा चित्त को व्यापक विषय वाला बनाने से आसन सिद्ध होता है। आसन सिद्धि हेतु दो उपाय बताए गए हैं–प्रयत्न शैथिल्य और अनन्त समापत्ति। सामान्य अवस्था में व्यक्ति कोई न कोई शारीरिक क्रिया करता रहता है। आसन सिद्धि में यह क्रिया बाधा डालती है। अतः आसन सिद्धि हेतु उपयोगी है कि समस्त क्रियाओं को प्रयत्नपूर्वक रोक दिया जाए। यह प्रयत्न शैथिल्य है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय है अनन्त समापत्ति। अर्थात् जिसकी कोई सीमा न हो, सीमा से परे हो। सीमा से परे तो ई"वर ही हो सकता है। अतः ई"वर को अनंत मानकर ध्यान करने से आसन सिद्धि होती है। जैसी ध्येय वस्तु होती है उसी के अनुरूप उसका प्रभाव भी पड़ता है। ई"वर नि"चल है, अडोल है। अतः उसका ध्यान करने से शरीर को स्थिर किया जा सकता है। यह शारीरिक स्थिरता आसन सिद्धि में सहायक बनती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. आसन का परिणाम–आसन सिद्धि फल बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–**ततो द्वंद्वानभिघातः।** उससे द्वंद्वों का अभिघात नहीं होता है अथवा द्वंद्वों का प्रभाव नहीं होता है। अर्थात् आसन सिद्धि से द्वंद्वों को सहने की क्षमता विकसित हो जाती है। द्वंद्व का अर्थ है सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास, सुख–दुःख, मान–अपमान आदि। ये सभी विचलित करने वाले हैं। आसनों के अभ्यास से शरीर इस योग्य बन जाता है कि वह इन विषम परिस्थितियों में भी संतुलन रख सकता है। सर्दी–गर्मी का प्रभाव न शरीर को कष्ट दे सकता है न मन को। इसी प्रकार भूख–प्यास की स्थिति भी उसको विचलित नहीं करती है। अतः ऐसे कई द्वंद्व जो उसे विचलित करते हैं, उन पर उसका नियंत्रण स्थापित हो जाता है। ऐसा माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार ही सहन कर सकता है। चाहे सर्दी हो अथवा गर्मी, भूख हो अथवा प्यास हो। यही बात साधक के लिए भी लागू होती है। यदि आसन में सिद्धि प्राप्त हो जाती है जो सामान्य अवस्था से वह विशेष अवस्था में पहुंच सकता है। अर्थात् शरीर, मन को साधने से इन द्वंद्वों को सहने की क्षमता का सामान्य से और अधिक विकास किया जा सकता है। वह शक्ति आसन से द्वारा सिद्ध होती है।

3.3.4 प्राणायाम

प्राणायाम का अर्थ है प्राणों का आयाम अर्थात् प्राणों का विस्तार। प्राणायाम को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–**तस्मिन् सति श्वास–प्रश्वासयोगर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।** आसनों की सिद्धि हो जाने पर श्वास–प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है। नासिका द्वारा श्वास को भीतर लेना श्वास कहलाता है और नासिका द्वारा श्वास को बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास को भीतर रोकना अंतःकुंभक है और श्वास को बाहर रोकना बाह्य कुंभक है। अतः श्वास–प्रश्वास की गतियों के प्रवाह को रेचन, पूरक और कुंभक द्वारा भीतर और बाहर रोकना प्राणायाम है।

1. प्राणायाम के प्रकार––प्राणायाम के प्रकारों को बताते हुए कहा है–**बाह्याभ्यांतरस्तम्भवृत्तिर्दे"ाकालसंख्याभिः परिदृष्टः दीर्घसूक्ष्मः।** बाह्यवृत्ति, आभ्यंतर वृत्ति स्तंभ वृत्ति वाला प्राणायाम और दे"ा, काल और संख्या से जाना हुआ लंबा और सूक्ष्म होता है। अर्थात् प्राणायाम बाह्य, आभ्यंतर तथा स्तंभन वृत्ति वाला होता है जो देश, काल और संख्या द्वारा नियमित, दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

बाह्यवृत्ति में श्वास को बाहर रोका जाता है तो आभ्यंतर वृत्ति में भीतर तथा स्तंभन वृत्ति में श्वास का जहां का तहां रोक दिया जाता है। प्राणायाम करते समय श्वास को बाहर अथवा भीतर जहा रोका जाता है, वह स्थान ही उसका देश है। प्राणायाम करते समय जितने समय तक श्वास को या प्राण को रोका जाए, वह उसका काल है और एक प्राणायाम काल में जितने स्वाभाविक श्वास–प्रश्वास लिए जा सकते हैं, वह उसकी संख्या है। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से वह दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

प्राणायाम के चतुर्थ प्रकार को बताते हुए कहा है– **बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी चतुर्थः।** बाह्य तथा आभ्यंतर प्राणायाम के विषय को दूर करने वाला बाह्याभ्यंतर विषयापेक्षी नामक चतुर्थ प्राणायाम है। साधना करते–करते साधक जब अपने इष्ट में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे देश, काल संख्या के ज्ञान का अभाव हो जाता है। ऐसे में श्वास की गति जिस किसी भी क्षेत्र में हो, वह वहीं रुक जाती है। अतः वही विषयापेक्षी है अर्थात् जहां अपेक्षा हो श्वास वहां स्वतः ही रुक जाता है।

2. प्राणायाम का परिणाम–प्राणायाम के परिणाम को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–**ततः क्षीयते प्रकाशावरणरम्।** उस प्राणायाम से प्रकाश पर आया हुआ आवरण क्षीण हो जाता है। अर्थात् उस प्राणायाम से विवेक पर आया हुआ आवरण क्षीण हो जाता है। विवेकज्ञान पर अज्ञान का आवरण होने से वह रजोगुण एवं तमोगुण धर्मी बन जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से मानसिक चंचलता एवं आलस्य जैसे विकार नष्ट हो जाते हैं। रजोगुण की अधिकता से व्यक्ति का चित्त अधिक चलायमान बनता है। तमोगुण में आलस्य की अवस्था होती है जिससे शुभ कार्यों के प्रति अरुचि पैदा होती है अथवा व्यक्ति धर्माचरण के विपरीत कार्य करने लगता है। ये दोनों ही स्थितियां एक साधक के लिए अनुपयोगी हैं। प्राणायाम के अभ्यास से मानसिक चंचलता एवं आलस्य जैसे विकार नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम श्वास के माध्यम से प्राण पर नियंत्रण करने का सशक्त माध्यम है। प्राण जब वश में होता है तो भी मानसिक चंचलता पर अंकुश लग जाता है। इसीलिए ध्यान, समाधि जैसी उच्च अवस्थाओं से पूर्व प्राणायाम का महत्त्व रहा है। हठयोग में कपालभाति को शुद्धि क्रिया के रूप में लिया गया है

(an Vishva Bharati Institute (Deemed University) Latur)

जो वास्तव में श्वास के द्वारा प्राण की ही शुद्धि है। दूसरी ओर प्राणायाम में श्वास पर ध्यान को केन्द्रित कर मन के अनावश्यक भटकाव को कम करने में सहायता मिलती है। अर्थात् प्राणायाम में मन को श्वास की क्रिया पर एकाग्र किया जाता है जिससे मन शांत एवं स्थिर होने लगता है जब प्राण शुद्ध है और मन शांत है तो आलस्य और प्रमाद जैसी बाधाएं नहीं आ सकती है। ऐसी स्थिति में साधक मानसिक विक्षेपों से निजात पा लेता है।

प्राणायाम का अभ्यास करते–करते जब चित्त सूक्ष्म हो जाता है जब सभी कर्म संस्कार, असद् वृत्तियां, अविद्यादि पंचक्लेश भी नष्ट होने गलते हैं। तब न अधर्माचरण रहता है, न राग–द्वेष जनित समस्याएं ही रहती हैं और न क्लिष्ट वृत्तियां ही रहती हैं। इनके नष्ट होने पर ज्ञानरूपी प्रकाश का उदय होता है। ज्ञान पर यही अज्ञान रूपी आवरण रहता है। प्राणायाम से यह अज्ञान रूपी आवरण के क्षीण होने से सतोगुण की प्राप्ति होती है। तब आचार–व्यवहार में वह परिलक्षित होता है। जैसे अग्नि से धातुएं शुद्ध हो जाती है, वैसे ही प्राणायाम से शारीरिक ही नहीं वरन् मानसिक व भावनात्मक विकार भी जल जाते हैं। अर्थात् शरीर, मन व भावों की शुद्धि में प्राणायाम सहायक बनता है। साथ ही कर्मजनित विकारों को दूर करने में प्राणायाम उपयोगी होता है। जब सभी शुद्धियां एक साथ होती हैं तो व्यवहार पर इसका प्रभाव अवश्य ही रहता है। अतः दार्शनिक दृष्टि से अज्ञान रूपी अंधकार या आवरण दूर होता है तो आचार–व्यवहार सम्यक् बनता है। अतः प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान पर आए आवरण को क्षीण किया जा सकता है और धर्माचरण के कार्यों में प्रवृत्त हुआ जा सकता है।

प्राणायाम का दूसरा परिणाम बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–**धारणासु च योग्यता मनसः।** और समस्त धारणाओं में मन की योग्यता होती है। अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास से मन स्थिर होता है, एकाग्र होता है, धारणा के अनुकूल बनता है। किसी विषय पर मन को रोकना धारणा है। मन धारणा के योग्य तभी बन सकता है जब वह विक्षेप रहित हो, विकार रहित हो, शांत हो। प्राणायाम के नियमित अभ्यास से मन पर अंकुश लगाया जा सकता है, उसकी विक्षिप्तता को कम किया जा सकता है, उसकी उद्विग्नता को रोका जा सकता है। जब उस पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है तब उसे जिस आलंबन अथवा जिस विषय पर रोकना चाहें, उस विषय पर रोकने में साधक समर्थ हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास किसी भी धारणा में मन को एकाग्र करने में सहायक होता है या मन को इतना कुशल बना देता है कि उसे जिस विषय पर चाहे, वहीं रोका जा सकता है।

3.3.5 प्रत्याहार

प्रत्याहार का अर्थ है प्रति आहार अर्थात् विपरीत आहार। इंद्रियों को विषयों के विपरीत मोड़ना, विमुख करना आदि। सूत्रकार का कहना है–**स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।** इंद्रियों का अपने विषयों के साथ संबंध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना प्रत्याहार है। अर्थात् इंद्रियों का विषयों से हटकर भीतर की ओर मुड़ना या चित्त का अनुकरण करना ही प्रत्याहार है। सामान्यतया इंद्रियों का स्वभाव है कि वे बहिर्मुखी होती है और अपने विषयों में लीन रहती हैं लेकिन साधक के लिए यह स्थिति उचित नहीं होती है। साधना के लिए बहिर्मुखी नहीं अपितु अंतर्मुखी होने की आवश्यकता होती है। इसके लिए प्रत्याहार जैसी युक्ति को अपनाना आवश्यक माना गया है। इस स्थिति में इंद्रियां अपने बहिर्मुखी विषयों से हटकर अंतर्मुखी हो जाती हैं और चित्त का अनुकरण करने लगती हैं। चित्त के निरुद्ध हो जाने पर इंद्रियों का व्यापार भी रुक जाता है। अर्थात् वे भी निरुद्ध हो जाती हैं। अतः इंद्रियों का विषय भोगों से विमुख होकर चित्त में तदाकार हो जाना प्रत्याहार है।

प्रत्याहार का परिणाम–प्रत्याहार के परिणाम को बताते हुए कहा है–**ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।** उस प्रत्याहार से इंद्रियों का उत्कृष्ट वशीकार होता है। अर्थात् प्रत्याहार के द्वारा समस्त इंद्रियां वश में हो जाती है। ऐसा होने से इंद्रियों की स्वतंत्रता पर अंकुश लग जाता है। फिर चाहे उन्हें जहां मोड़ना चाहें, वे अनुकरण करने लग जाती हैं। साधना का बहुत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बड़ा शत्रु है इंद्रियों का स्वतंत्र होना, स्वछंद होना, बहिर्गामी होना। जब तक इनकी मनमानी चलती रहती है तब तक चित्त भी अशांत बना रहता है। ऐसे में साधना संभव नहीं हो सकती है। अतः इन पर नियंत्रण आवश्यक है। प्रत्याहार के द्वारा धीरे–धीरे इन्हें वशीभूत किया जा सकता है। एक समय ऐसा भी आता है जब ये पूर्ण नियंत्रण में हो जाती है तब साधक जितेन्द्रिय हो जाता है।

3.3.6 धारणा

चित्त किसी एक आलंबन पर टिकना धारणा है। सूत्रकार कहते हैं–**देशबंधश्चित्तस्य धारणा।** चित्त को किसी देश विशेष में बांधना धारणा है। देश का तात्पर्य स्थान विशेष है। इस प्रकार जिस स्थान पर अथवा जिस विषय पर चित्त को स्थिर किया जाए, वह देश है। धारणा के लिए दो स्थान निश्चित किए गए है– आभ्यंतर एवं बाह्य। ध्येय विषय कोई भी हो सकता है। जैसे नाभि, हृदयकमल, नासिका का अग्रभाग भाग सहस्रार चक्र आदि अथवा चंद्रमा, मूर्ति आदि बाह्य देश रूप विषय भी हो सकते हैं। इन्हीं में ध्यान का अभ्यास करना। बंध का अर्थ है बांधना, स्थिर करना, एकाग्र करना। अतः चित्त को अन्य विषयों से हटाकर एक विषय में वृत्तिमात्र से स्थिर करना बंध है। धारणा का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम में तो ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना उपासना आदि तो द्वितीय में किसी पदार्थ के स्वरूप को जानने के लिए। इस प्रकार साधक अपने लक्ष्य के अनुरूप अपनी ध्येय वस्तु का चुनाव करता है।

3.3.7. ध्यान

चित्त एक आलंबन पर लंबे समय तक टिकना ध्यान है। सूत्रकार कहते हैं–**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।** उस धारणा में वृत्ति की एकतानता, एक सा बना रहना ध्यान है। अर्थात् धारणा की अवस्था में जिस ध्येय विषय को आलंबन बनाया गया हो, उसमें चित्त की स्थिरता की अवस्था ही ध्यान है। इसमें चित्त अपने आलंबन के साथ एकाकार हो जाता है। समस्त इंद्रियां, मन, शारीरिक तथा मानसिक विक्षेपों पर अंकुश लग जाता है। चित्त सारे विषयों से हटकर एक ही आलंबन पर केन्द्रित रहता है। ऐसे में वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है जिससे चेतना की अतल गहराइयों से साधक का संपर्क स्थापित होता है और नए–नए आयाम उद्घाटित होते रहते हैं। अतः ध्यान एक ऐसी अवस्था है जहां द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीनों का भाव साधक को बना रहता है।

3.3.8. समाधि

समाधि का अर्थ सम + अधि अर्थात् सम अवस्था में होना या उसे प्राप्त कर लेना। सूत्रकार कहते हैं–**तदेवार्थ मात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।** जब ध्यान में ध्येय की ही प्रतीति होती है और चित्त निज स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है तो वह समाधि है। ध्यान की उच्चतम अवस्था ही समाधि है। कहा जाता है कि समाधि में मनोशारीरिक क्रियाएं थम जाती हैं पर चित्त की पूर्ण जागरूकता बनी रहती है। अर्थात् ध्यान करते–करते साधक का चित्त ध्येय के आकार में ही परिणत हो जाता है तब उसे निज स्वरूप का अभाव सा हो जाता है। उसे ध्येय से पृथक अनुभूति नही रहती है, मात्र ध्येय के ही स्वरूप का भाव होता है। अर्थात् दृश्य पर ही चित्त एकाकार हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्य पृथक नहीं होकर एक ही हो जाते हैं। अतः इन तीनों का एक हो जाना ही समाधि है।

3.4 संयम

संयम दो शब्दों से मिलकर बना है सम् + यम अर्थात् पूर्ण नियंत्रण। सूत्रकार ने कहा है–**त्रयमेकत्र संयमः।** किसी एक ध्येय में तीनों का होना संयम है। अर्थात् किसी एक विषय में धारणा, ध्यान और सामाधि की समग्रता को संयम कहा जाता है। संयम में ये तीनों ही क्रियाएं आपस में विलय हो जाती है। अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि का एक विषय में होना संयम है। इसे संयम इसलिए कहा गया है कि इन तीनों के सिद्ध होने पर ही अनेकानेक सिद्धियां साधक को प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. संयम का परिणाम–संयम के परिणाम को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–**तज्जयात्प्रज्ञालोकः।** उस संयम के सिद्ध होने से प्रज्ञा का प्रका"ा होता है। प्रज्ञा का प्रका"ा अर्थात् समाधि प्रज्ञा का प्रका"ा। अभ्यास का परिपक्व होना संयमजय है। विजातीय विषयों के अभाव में ध्येय विषयक शुद्ध, एवं सात्विक प्रवाह से बुद्धि का स्थिर रहना प्रज्ञालोक है। इस प्रकार जब संयम परिपक्व अवस्था वाला बन जाता है तब समाधि प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इससे ध्येय का स्वरूप यथार्थ रूप से अनुभव होने लगता है और अनेक प्रकार की सिद्धियां भी मिलने लगती हैं। इसके उपरांत विवेकख्याति का साक्षात्कार होने लगता है। कहने का तात्पर्य है कि जब चित्त सूक्ष्मतम हो जाता है तो स्व की चेतना कुछ समय के लुप्त हो जाती है। ऐसे समय में ऐसी प्रज्ञा प्रकट होती है, ऐसे–ऐसे अनुभव होते हैं, ऐसी अलौकिक ज्ञान शक्ति आ जाती है जो सामान्य अवस्था या इंद्रिय जगत् में नहीं हो सकती हैं। जब उच्च चेतना का अवतरण होता है तो इस आलोक में ध्येय वस्तु चिदाकाश में स्पष्ट रूप में लगातार दृष्टिगोचर होती रहती है।

2. संयम का उपयोग–संयम के उपयोग करने हेतु सूत्रकार कहते हैं कि–**तस्य भूमिषु विनियोगः।** उस संयम का भूमियों में विनियोग करना चाहिए। अर्थात् उस चित्त को सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों में लगाना चाहिए। संयम की पराकाष्ठा हो जाने पर चित्त को सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर लगाया जाए तो उस विषय का रहस्योद्घाटन किया जा सकता है। जिस प्रत्यय को, जिस आलंबन को ध्येय बनाया जाएगा, उस विषय से संबंधित रहस्य, उस विषय का सत्य प्रकट होगा। जैसे किसी भी चक्र पर ध्यान केन्द्रित किया जाए तो साधक उस चक्र से संबंधित अनेक अनुभवों का बोध कर सकता है। अतः ध्यान के लिए एक नहीं वरन् अनेक प्रत्यय हैं, अनेक भूमियां हैं जहां चित्त के संयम से सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों की जानकारी हो सकती है और अनेक सिद्धियां भी उसे प्राप्त हो सकती हैं। चित्त जब पटु बन जाता है तब वह किसी भी विषय को पकड़ने में सक्षम हो जाता है। उस अवस्था में यदि उसका और अधिक उपयोग किया जाए, उसे और अधिक सत्य की खोज में लगाया जाए तो वह सरलतापूर्वक उस ओर गति कर सकता है। ऐसा न करने पर चित्त पुनः संस्कारों से प्रभावित होगा, पुनः क्लेशों का उदय होगा जो दुःख का ही कारण बनेगा। कहने का तात्पर्य है कि शुद्ध चित्त का, विकार रहित चित्त का उपयोग अनेक विषयों पर होता रहेगा तो वह साधक को अनेकानेक अनुभवों से संपन्न कर करने में सहायक होगा।

3.5 कैवल्य का स्वरूप

कैवल्य वह अवस्था है जिसमें पुरुष अपने मूल स्वभाव अथवा विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। जब सारे क्लेश, सारी वृत्तियां और सारे कर्म संस्कारों का विघटन हो जाता है तब मात्र शुद्ध ज्ञान ही बचता है। अर्थात् जब कर्मों की आनत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तो वह अवस्था कैवल्य की है। इसे मोक्ष या निर्वाण भी कहा है। सूत्रकार कहते हैं कि **पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति** –द्रष्टा का पुरुषार्थ शून्य होकर अपने कारण में लीन हो जाना या अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। कैवल्य गुणों का प्रतिप्रसव (अपने कारण में लीन होना) है क्योंकि उसका प्रयोजन सिद्ध हो चुका है अथवा वह अपने स्वाभाविक रूप में पुनर्स्थापना है जो विशुद्ध है। एक ओर गुणों का प्रतिप्रसव होता है और दूसरी और अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। पुरुष के दो प्रयोजन है भोग और अपवर्ग, भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख। प्रकृति के साथ मिलकर जब वह अपने स्व स्वरूप को भूल जाता है या उसकी अभिव्यक्ति चित्त के माध्यम से होती है तो वह प्रकृति के अनुरूप ही होती है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। जिस समय जिस गुण का प्रभाव रहता है, फलतः वृत्ति भी वैसी ही होती है। प्रकृति का सारा प्रयोजन पुरुष के लिए ही होता है। सतोगुण के प्रभाव से जब साधक साधना के क्षेत्र में उतरता है तब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। इस स्थिति में वह प्रकृति से भोग लेना बंद कर देता है और प्रकृति भी उसे भोग देना बंद कर देती है। तब पुरुष अपने स्व स्वरूप को प्राप्त होता है।

साधना करते–करते जब साधक चेतना की उच्च भूमियों में प्रवेश करता है तब वहां न मन रहता है, न अहंकार रहता है, न पंचभूत रहते और न ही तंमात्राएं आदि ही रहते हैं। कहने का तात्पर्य है कि प्रकृति और पुरुष के मध्य भोग लेना और भोग देना दोनों ही बंद हो जाते हैं तो वहां प्रकृति और पुरुष के मिलने से होने वाले सारे विकार स्वतः ही अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मूल कारण में विलीन हो जाते हैं। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के संसर्ग को सृष्टि और दोनों के अलग होने को प्रलय कहा है। अतः सृष्टि में सब साथ में रहते हैं पर प्रलय में सब अलग हो जाते हैं। तब शुद्ध आत्मा अथवा पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसे जीवन मुक्ति भी कहा गया है। अर्थात् इसी जीवन में सारे प्रपंच, सारी माया, सारी अज्ञानता आदि सब कुछ समाप्त हो जाता है। अंततः जब शरीर भी साथ छोड़ देता है तो उसे विदेह मुक्ति कहा गया है। अतः योग की अंतिम परिणति स्व स्वरूप की प्राप्ति है जिसे कैवल्य कहा गया है।

3.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

I. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

क्रियायोग क्या है?

2. अष्टांग योग के आठ अंग बताइए।
3. क्लेश का अर्थ क्या है?
4. अविद्या क्या है?
5. नियम कितने हैं?

II. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अहिंसा को समझाइए।
2. अपरिग्रह के महत्त्व को समझाइए।
3. शौच क्यों आवश्यक है?
4. तप के महत्त्व को बताइए।
5. संयम को समझाइए।

III. निबंधात्मक प्रश्न

1. पंच क्लेशों की व्याख्या कीजिए।
2. यमों को विस्तार से समझाइए।
3. अष्टांग योग की व्याख्या कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–4 : शैवयोग

इकाई की संरचना

तन्त्र परम्परा

4.0 उद्देश्य

4.1 तन्त्र धारणा एवं कारण

4.2 तन्त्र का स्वरूप

4.3 तन्त्र की प्राचीनता

4.4 तन्त्र विद्या : दार्शनिक आधार

4.5 तन्त्र साधना के सिद्धांत

4.6 परंपरागत जीवन चर्या

4.7 साधना के प्रकार

4.8 साधना के स्तर

4.9 साधना की आवश्यकताएं

4.10 साधना उपक्रम

4.11 अभ्यास प्रश्न

4.12 संदर्भ ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस पाठ के माध्यम से निम्न उद्देश्यों की पूर्ति कर पाएंगे–

- तन्त्र परम्परा के प्राचीन स्वरूप को जान पाएंगे।
- तन्त्र विद्या का दार्शनिक आधार, आचार परंपरा,साधना के प्रकार तथा स्तर को समझ पाएंगे।
- साधना की आवश्यकता, साधक की योग्यता एवं साधना स्तर को समझ पाएंगे।

भारतीय परंपरा में शैव योग का अपना विशेष स्थान है। इसके अंतर्गत अनेक संप्रदाय हैं जैसे पाशुपात दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, कश्मीरी शैव मत, आदि–आदि। शैव योग के अंतर्गत मुख्यतया तंत्र की साधना की जाती है। अतः तंत्र साधना अपना एक अलग ही वैशिष्ट्य रखती है। अनेक विद्वानों का मानना है कि मनुष्य का प्राचीनतम धर्म न्यूनाधिक रूप में तंत्र ही था। प्रागैतिहासिक काल में तथा नाना प्राचीन सभ्यताओं में शक्ति की उपासना प्रचलित थी। सिंधु सभ्यता में मातृ शक्ति का पूजन विहित था। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर तांत्रिक धर्म के संकेत मिलते हैं। सर्वत्र तंत्र के कुछ समान लक्षण मिलते हैं। ज्ञान और कर्म का समुच्चय, प्रतीक प्राचुर्य, गोपनीयता, अलौकिक सिद्धि और चमत्कार, गुरु का महत्त्व, मुद्रा–मण्डल, यंत्र–मंत्र का प्रयोग आदि प्रायः सभी तंत्रों में न्यूनाधिकता से उपलब्ध होते हैं। सभी सम्प्रदायों में मुक्ति अभीष्ट है तथा सभी में अज्ञान, कर्म एवं वासना को मुक्ति के प्रतिबन्धक माने हैं। इन प्रतिबन्धकों के प्रबल होने पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तत्त्वोपदेश मात्र से अपरोक्ष ज्ञान (आत्म–ज्ञान) की स्फूर्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में उपासना (साधना) द्वारा चित्त शुद्धि का ही मार्ग सुगम है। अतः तंत्र साधना में चित्त शुद्धि के द्वारा परम तत्त्व को प्राप्त करने का विधान है।

4.1 तंत्र : धारणा एवं कारण

'तंत्र' का नाम सामने आते ही लोगों के मस्तिष्क में ऐसे व्यक्ति की कल्पना आती है, जो जादू–टोना, मारण, उच्चाटन, सम्मोहन, वशीकरण आदि का प्रयोग करते हैं। श्मशान साधना करते हैं। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन का प्रयोग करते हैं। अन्यान्य अनेक घृणित, वीभत्स व भयानक कृत्यों में संलग्न रहते हैं। किसी को शाप या वरदान देने में समर्थ लगते हैं। आम जनता जिनसे भयभीत होती है या अंधविश्वास से जुड़ी रहती है। आम जनता में तंत्र के बारे में ये प्रचलित धारणाएं अकारण ही नहीं है। तंत्र की सांकेतिक भाषा व गोपनीयता के कारण सुदीर्घ, हजारों वर्षों में तंत्र का वास्तविक स्वरूप अभ्यास में विकृत व उसका प्रयोजन धूमिल हो गया। सही प्रयोक्ता व प्रवक्ता दुर्लभ हो गये। इतिहास में ऐसे अनेकों प्रसंग हैं जब शक्ति सम्पन्न, चमत्कारी बाबाओं ने मारण, उच्चाटन व वशीकरण जैसे साधनों का खुलकर प्रयोग किया। आत्म–कल्याण का विज्ञान पर–पीड़न का साधन बन गया। क्या संन्यासी, क्या गृहस्थ कोई भी इसके सीमाओं के अतिक्रमण से अछूते न रह सके। गृहस्थ अपने तुच्छ स्वार्थों एवं निम्न वृत्तियों की पूर्ति में इसके उपयोग को रोक नहीं सका तो दूसरी ओर संन्यासी अपने मूल लक्ष्य को भूलकर ऋद्धि–सिद्धि व चमत्कारों के आकर्षण से अपने आपको बचा न सके। फलतः आज यह आम जनता में क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति का घिनौना साधन समझा जाने लगा है लेकिन तंत्र का वास्तविक स्वरूप यह नहीं वरन् इससे भिन्न है।

4.2 तंत्र का स्वरूप

तंत्र शब्द में तन् धातु है जिसका अर्थ 'विस्तार' है। 'त्र' रक्षा करने के अर्थ वाली धातु से भी इस शब्द की व्युत्पत्ति है। इन दोनों के सामूहिक अर्थ से तात्पर्य निकलता है कि तंत्र विपुल अर्थों का विस्तार करने के साथ ही तदनुसार आचरणशील व्यक्तियों का त्राण भी करता है। परमहंस सत्यान्न्द सरस्वती के अनुसार तंत्र शब्द का संबंध जीवन में चेतना से है। तन् धातु का तनोति शब्द जिसका मतलब होता है विस्तार करना जिसका वास्तविक तात्पर्य है, हमारी चेतना का विस्तार।

तंत्र का संबंध उस ज्ञान से है जो व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है, जिसके द्वारा मनुष्य की आध्यात्मिक शक्तियों का विकास किया जाता है जिससे मनुष्य सत्य का बोध कर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। Tantra would come to mean a branch of knowledge which will often a systematic and scientific method by which the spiritual powers in herent in men can be brought out and human life may be blessed with a glimpse of reality and attain salvation.

इस प्रकार तंत्र का व्यापक अर्थ हुआ–शास्त्र, सिद्धान्त अनुष्ठान, विज्ञान या विज्ञान विषयक ग्रंथ। शंकराचार्य ने सांख्य दर्शन के लिए भी तंत्र शब्द का प्रयोग किया है। तंत्र शब्द का अर्थ व्यवस्था से भी लगाया जाता है। आज भी शासन व्यवस्था के विभिन्न स्वरूपों के लिए प्रजातंत्र, राजतंत्र, लोकतंत्र आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इन व्यापक अर्थों के अतिरिक्त तंत्र का एक संकुचित एवं रूढ़ अर्थ भी है। तंत्र उस शास्त्र को कहते हैं जो मंत्र, कील, कवच से समन्वित एक विशिष्ट साधना मार्ग का उपदेश देता है।

तंत्र की तीन मुख्य श्रेणियां है– वैष्णव तंत्र जिसे **संहिता** की संज्ञा मिली है, शैव तंत्र जिसे **आगम** के नाम से जाना जाता है और शाक्त–तंत्र जिसे **निगम** कहते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार जिससे अभ्युदय (लौकिक कल्याण) और निःश्रेयस (मोक्ष) के उपाय बुद्धि में आते हैं, वह आगम कहलाता है। आज के विज्ञान की तरह 'तंत्र विद्या' भी प्राचीन काल में एक विशिष्ट विज्ञान था। आज का विज्ञान भौतिक नियमों पर आधारित है पर तंत्र–विद्या प्रधानतः चेतना के नियमों पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आधारित था। आज के विज्ञान की तरह प्राचीन तंत्र–विद्या में भी सैद्धांतिक व तकनीकी ज्ञान की विपुलता थी। विज्ञान के समान ही तंत्र में भी अपेक्षित योग्यता वाला प्रत्येक व्यक्ति प्रवेश कर सकता था क्योंकि तंत्र में सब वर्णों को समानता का अधिकार दिया गया। स्त्री और शूद्रों को भी पूरा अधिकार था। अतः यह जनसाधारण में भी लोकप्रिय था। विशिष्ट योग्यता के अभाव में किसी भी वर्ण का व्यक्ति इसमें प्रवेश नहीं कर सकता था। गुरु योग्यता के अनुसार शिष्य की परीक्षा करके उसे विभिन्न तंत्रों की दीक्षा देकर उसकी अग्रिम तथा उत्थान की व्यवस्था करते। तंत्र की विशेषता उसका क्रियात्मक पक्ष है। विज्ञान के प्रयोगात्मक पक्ष की निपुणता बिना कुशल नेतृत्व के प्राप्त नहीं की जा सकती। उसी प्रकार तंत्र के व्यावहारिक विज्ञान में कुशल गुरु के अभाव में कोई शिष्य निपुण नहीं हो सकता। प्रयोग–विधियों के सम्यक् तथा न साधने पर उसके परिणाम भी तदनुरूप प्रभावित होते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक विज्ञान अपने आप में न अच्छा होता है और न बुरा। जब उसके मूल उद्देश्य के प्रति प्रतिबद्धता शिथिल हो जाती है, लक्ष्यविहीन विकास होता चला जाता है, स्व–परकल्याण के स्थान पर पर–पीड़न, अशांति, कलह व युद्ध का साधन बन जाता है, तब आम जनता का सहयोग समाप्त होने लगता है, उसके पतन व पराभव का प्रारम्भ हो जाता है। तंत्र में मानवीय समस्याओं के समाधान की विपुल संभावनाओं के बावजूद भी काल व क्षेत्र के अनुरूप सही प्रायोक्ता एवं प्रवक्ता के अभाव में इसका वास्तविक स्वरूप पर्दे के पीछे चला गया। अतः जनता में तांत्रिक शक्ति के प्रति अनेक प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं। कुछ इसके समर्थक तथा प्रशंसक हैं तो कुछ आलोचक और निंदक। एक बड़ा वर्ग इसके प्रति उदासीन भी है।

4.3. तंत्र की प्राचीनता

तंत्र शास्त्र के आधुनिक चिंतन और शोधकर्त्ता तंत्र की परम्परा को सिंधु घाटी की सभ्यता तक पीछे ले जाते हैं। सिंधु घाटी की सभ्यता से प्राप्त मूर्त्तियों, सिक्कों, चित्रों या अवशेषों के अंतर्गत मातृशक्ति, शिवलिंग या तंत्रों से संबंधित अवशेष भी पाये गये हैं। यह सभ्यता लगभग ईसा पूर्व 3000 वर्ष के काल की मानी जाती है। विद्वानों का मानना है कि तंत्र की परम्परा इतनी प्राचीन तो अवश्य है ही, उससे पहले भी रही हो सकती है। महाभारत से बौद्धधर्म (ईसा पूर्व 600) तक तंत्र–मंत्र का प्राबल्य दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद में महाशक्ति सरस्वती का स्तवन है। अथर्ववेद में भगवती महाशक्ति कहती है कि मैं समस्त देवताओं के साथ हूं। सबमें व्याप्त हूं। इसी अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि का भी विधान है। भगवान् महावीर (599–527 BC) के जीवनकाल में ही उन पर आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य गोशालक द्वारा तेजोलेश्या के मारक प्रयोग का उल्लेख मिलता है। 600 ई. पूर्व में महावीर और बुद्ध द्वारा की गई धार्मिक– आध्यात्मिक क्रांति में तंत्र के आध्यात्मिक स्वरूप और प्रयोजन की प्रतिष्ठा दिखाई देती है। यहां उसका वह रूढ़ रूप बदल जाता है। इसका प्रभाव लम्बे समय तक दिखाई देता है। इस अवधि में तंत्र का वह स्वरूप जो भयानक या वीभत्स था, अंधविश्वास से भरा था उसमें परिवर्तन होता है। यह स्थिति भी भारतीय परिदृश्य में लम्बे समय तक स्थिर नहीं रह पाई। पुनः 7वीं से 12वीं शताब्दी के मध्य युग में तंत्र का आध्यात्मिक स्वरूप पिछड़कर उसका पर–पीड़क स्वरूप के मारण, उच्चाटन आदि प्रयोगों की प्रबलता देखने में आती है। तंत्र–मंत्र, जादू, टोना, टोटका आदि सामने उभरकर आते हैं। जिसके पुनः–पुनः परिष्कार की चेष्टा नाथ सम्प्रदाय व संत परम्परा आदि में देखने को मिलती है। वर्तमान में तंत्र का लौकिक स्वरूप ही अधिक सामने आ रहा है। उसका लोकोत्तर स्वरूप नहीं दिखाई दे रहा है।

तंत्र के पतन और पराभव के समय अंधविश्वास और गुप्त विद्याओं का बोलबाला बढ़ा। आध्यात्मिक लक्ष्य व आत्मकल्याण की भावनाएं दुर्बल हुईं। इसके उत्कर्ष के समय अध्यात्म और सामाजिक आचार संहिताएं जुड़ीं। जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष और सामाजिक शांति व सह–अस्तित्व के लिए नियम व मर्यादाओं के प्रति जागरूकता पैदा की गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.4 तंत्र विद्या : दार्शनिक आधार

तंत्र का महत्व मानव जीवन की महानता व व्यावहारिक साधनों के प्रतिपादन में है। सामर्थ्यगत पूर्णता का विकास इसका आदर्श है। मानव आत्मा ही परमात्मा का रूप है। शरीर उसकी सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति और विकास का सशक्त साधन है। मानव जीवन का लक्ष्य पूर्णता की सम्यक् उपलब्धि है। अविद्या से मुक्ति के लिए पूर्णज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। इस प्राप्ति हेतु वह सबको, सब जाति व लिंग को समान अधिकारी मानता है, भेदभाव नहीं करता है। शाक्त तंत्र के अनुसार तीन प्रकार के भाव जीवन में होते हैं–पशुभाव, वीरभाव और दिव्य भाव। शाक्त–तंत्र की यह स्पष्ट अवधारणा है कि मानव जीवन का आंतरिक रूपान्तरण किया जा सकता है। भावों का रूपान्तरण सात प्रकार के आचार द्वारा किया जा सकता है। भाव मानसिक अवस्था है तथा आचार बाह्य आचरण है। भाव मानव जीवन की आंतरिक स्थिति है तथा आचार बाह्य व्यवस्था या आचार या साधना प्रणाली है। व्यक्ति में तामसिक, राजसिक और सात्विक गुण होते हैं। ये गुण पंच कोशों को नियंत्रित करते हैं। उनकी अभिव्यक्ति व क्रिया को संचालित करते हैं तथा कर्मों के कारण बनते हैं। इन तीन गुणों से तीन प्रकार के स्वभाव की उत्पत्ति होती है–तमोगुण से पाशविक स्वभाव या **पशुभाव**, रजोगुण से **वीरभाव** और सत्वगुण से **दिव्यभाव।** पशुभाव वाला व्यक्ति अपनी वासनाओं, इच्छाओं और कर्म के अधीन जीवन व्यतीत करता है। परिवार, सम्पत्ति, स्वार्थ की भावना आदि पशुभाव के लक्षण हैं। वीर भाव वाला व्यक्ति तामसिक गुण और पाशविक स्वभाव के रहते हुए भी जीवन में आत्मसंयम और नियंत्रण की एक अवस्था को स्थापित करता है। इससे व्यक्ति अपने आप को पशुभाव से मुक्त करने में सक्षम हो जाता है। वीरभाव के मुख्य लक्षण संयम और नियंत्रण है। दिव्य भाव वाले व्यक्तियों के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जीवन के स्वाभाविक अंग बन जाते हैं।

सामान्यतया मनुष्य के गुणों को बदला नहीं जा सकता। गुणों को बदलने के लिए कर्मों के प्रति जागरूक होना पड़ता है लेकिन शाक्त तंत्र की यह स्पष्ट मान्यता है कि भावों को बदला जा सकता है। उससे गुणों के नकारात्मक प्रभाव को कम किया जा सकता है। तामसिक को राजसिक में और राजसिक को सात्पिक में बदला जा सकता है। तंत्र के अनुसार मनुष्य में चार प्रकार की मौलिक वृत्तियां हैं–आहार, निंद्रा, भय और मैथुन। इन वृत्तियों के रहते साधना में विकास नहीं हो सकता। तंत्र शास्त्र में इनको क्षय करने पर बल दिया गया है। तंत्र साधना का उद्देश्य भी यही माना गया है कि मन को वृत्ति रहित बनाना, उनको सही परिप्रेक्ष्य में समझना व निदान करना। जब तक इन वृत्तियों, उपवृत्तियों या प्रवृत्तियों का निदान नहीं होता, चेतना का क्रमिक विकास और सभी प्रकार की आंतरिक या आध्यात्मिक उपलब्धियां असंभव हैं। इन वृत्तियों के निराकरण के बिना गतन हो जाता है। प्राणायाम के अभ्यास से प्राणों की जागृति होती है। साधक निंद्रा पर विजय प्राप्त करता है। खेचरी मुद्रा और मौन से आहार वृत्ति पर विजय प्राप्त करता है। मुद्रा से भयवृत्ति पर तथा परम तत्त्व की प्राप्ति से मैथुन पर विजय प्राप्त होती है। खेचरी मुद्रा, मौन, प्राणायाम, आत्मज्ञान व परमतत्व की उपलब्धि को सांकेतिक भाषा में पंचमकार की साधना कहा गया है। इस साधना से व्यक्ति जीवन की मूल प्रवृत्तियों को क्षय कर सकता है।

4.5 तंत्र–साधना के प्रमुख सिद्धांत

तंत्र पद्धति साधना के छह प्रमुख सिद्धांत हैं–

1. **पशु**– आत्मा जिसका निवास किसी सीमा के भीतर हो वह पशु कहलाता है। जीव एक पशु के समान है क्योंकि वह कर्म संस्कारों से बंधा है जिससे वह अपनी शुद्ध अवस्था में नहीं है। इसलिए जीव को पशु माना गया है।
2. **पाश**–पाश का अर्थ है रस्सी। जीव पाश से बंधा हुआ है। अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, मल और कर्म के बंधन आदि जीव को बांधे रखते हैं। जीव जब इस पाश से मुक्त होता है तो वह पति या शिव में मिल जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. **पति**–पति का अर्थ है मालिक, स्वामी, संरक्षक आदि। तंत्र साधना में शिव को पति माना गया है। यह निराकार तत्त्व है। इसमें किसी भी प्रकार की चंचलता या स्पंदन नहीं है। वह सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान है।

4. **शक्ति**–शक्ति है ऊर्जा जिसके द्वारा सारे कार्य सम्पादित होते हैं। यह शिव का ही एक अंश है। यदि शिव सूर्य है तो शक्ति किरण। शक्ति और शिव एक दूसरे से अभिन्न हैं परन्तु शिव स्वयं में परिपूर्ण है और शक्ति उनकी अभिव्यक्ति है। शक्ति को रीढ़ के अंतिम छोर में माना गया है। एक साधक का लक्ष्य होता है शक्ति को शिव से मिलाने का। पार्वती को शक्ति का प्रतीक माना गया है।

5. **विचार शक्ति**–विचार का अर्थ है विचरण करना। इसके अंतर्गत क्रिया, सिद्धान्त या दर्शन आते हैं।

6. **क्रियाचार**–क्रियाचार साधना मार्ग में आगे बढ़ने की विधियां हैं।

तंत्र के अंतर्गत विभिन्न मत और सम्प्रदाय उत्पन्न और विकसित हुए हैं। सभी का उद्देश्य एक ही है कि मनुष्य अपने जीवन को समझकर मल और विकारों को हटाकर अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव करे। इस उपलब्धि के लिए बताई गई साधना और क्रम में विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्नता दिखलाई देती है। पाशुपत सिद्धान्त की पांच प्रमुख विभक्तियां हैं– कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त। **कारण** का संबंध पति या शिव तत्त्व से है। **कार्य** का संबंध शक्ति से है। **योग** का संबंध दोनों की मिलन की अवस्था से है। **विधि** का संबंध ऐक्य अवस्था को प्राप्त करने के उपाय से है। **दुःखान्त** दुःख के अंत की अवस्था है। वह शिव और शक्ति दोनों तत्वों के एक होने पर उपलब्ध होती है। दुःखान्त की अवस्था मोक्षावस्था है। आत्मा को शक्ति और शिव से अभिन्न माना है लेकिन इन दोनों के बीच एक आवरण है जिसके कारण शक्ति तत्त्व शिव तत्त्व को नहीं पहचान सकता और शिवतत्त्व शक्ति तत्त्व को नहीं पहचान सकता। विधि के द्वारा अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा दोनों के बीच कर्मों के आवरण को हटाने का प्रयास किया जाता है। आवरण के हट जाने से योग की प्राप्ति होती है।

तंत्र में शरीर विज्ञान– तंत्र साहित्य के अनुसार मानव जीवन की समस्त क्रियाओं का संपादन पांच कोशों के द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त नाड़ियां और चक्र भी इन्हीं कोशों से से जुड़े हुए हुए हैं। मानव व्यवहार में इन सबका अपना विशेष महत्त्व है। अतः इनका विवरण निम्न प्रकार है–

1. **कोश**–कोश का अर्थ है स्तर। जीवन के अस्तित्व में निम्न कोश हैं–

   a) **अन्नमयकोश**–अन्नमय कोश भौतिक शरीर या पदार्थमय स्थूल शरीर है। यह पंच तत्त्वों से निर्मित है। सभी प्राणी इन पंच तत्त्वों के संरक्षण व पोषण के लिए अन्य पंच तत्त्वों को ग्रहण करते हैं। इस अन्नमय कोश के संचालन के लिए नाड़ियों का समूह है। इन नाड़ियों के माध्यम से अन्नमय कोश में प्राणि–शक्ति का का संचरण होता है।

   b) **प्राणमयकोश**–प्राणमय कोश मनुष्य का सूक्ष्म शरीर है जो ऊर्जा से निर्मित है। शक्ति की अभिव्यक्ति प्राणमय शरीर द्वारा होती है। सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा प्राणमय कोश में शक्ति का संचरण होता है।

   c) **मनोकोश**–मनोमय कोश को मन, बुद्धि और चित्त से निर्मित माना गया है। यह चेतना की स्थूल अभिव्यक्ति है। इसके अंतर्गत मन की विभिन्न स्थितियों और बौद्धिक स्तरों का समावेश किया गया है।

   d) **विज्ञानमय कोश**–विज्ञानमय कोश बुद्धि का स्तर है। इसमें ज्ञान की ही अनुभूति होती है। बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के पार स्वयं की चेतना की अनुभूति ही विज्ञानमय अवस्था है।

   e) **आनंदमयकोश**–आनन्दमय कोश का संबंध परा अनुभूति से है। समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने पर इस अवस्था की प्राप्ति होती है।

ये पाचों शरीर एक दूसरे से अभिन्न हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. नाड़ियां–नाड़ियां प्राण प्रवाह के मार्ग हैं। तंत्र साधना में पांचों शरीर को संगठित रखने के लिए साढ़े तीन लाख नाड़ियों का उल्लेख है। ये वे मार्ग हैं जिनके द्वारा प्राण, अन्तश्चेतना का संचरण होता है। स्थूल और सूक्ष्म ऊर्जा का संचरण होता है। उनमें भी 14 नाड़ियां मुख्य हैं। 14 में भी तीन प्रमुख नाड़ियों को इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के नाम से जाना जाता है। पिंगला नाड़ी प्राण शक्ति के प्रवाह का प्रतीक है। इड़ा नाड़ी स्थूल और सूक्ष्म चित्त शक्ति के प्रवाह का प्रतीक है। सुषुम्ना इन दोनों के भीतर संतुलित प्रवाह का परिणाम है। इससे सुषुम्ना की जागृति होती है। सुषुम्ना में प्रबलता आने पर इसके भीतर स्थित चित्रा या ब्रह्मनाड़ी की जागृति होती है। इसका जागरण ही कुण्डलिनी जागरण है।

3. चक्र–चक्र एक गोलाकार रचना है। योगियों का मानना है कि शरीर के विशेष स्थानों में कुछ विशेष चक्र होते हैं जहां ऊर्जा का क्षेत्र सघन होता है। तंत्र शास्त्र में छः मुख्य चक्रों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य उपचक्रों का वर्णन भी है। मुख्य चक्रों का संबंध पंचतत्व व मनस्तत्व के साथ किया गया है। सहस्रार में शिव–शक्ति का मिलन माना गया है। यह अव्यक्त, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान अवस्था का प्रतीक है। अव्यक्त चेतना व अव्यक्त शक्ति रूपान्तरित होती हुई नीचे के चक्रों में व्यक्त होती है। मूलाधार पर में व्यक्त शक्ति कुण्डलिनी रूप धारण कर मनुष्य में विषयों के प्रति आकर्षण पैदा करती है। मनुष्य को बन्धन में बांध देती है। मानव में यह क्षमता है कि शक्ति को मूलाधार से ऊपर उठाकर सहस्रार में पहुंचाये अपने आपको बन्धनमुक्त कर दे। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करना ही तंत्र शास्त्र का उद्देश्य है। तंत्र के अनुसार बन्धन की इस अवस्था में मनुष्य पशु रूप में है। शक्ति का अधोगमन ही पाश है। पाश को काटकर पशुत्व की अवस्था से मुक्त होना ही तंत्र शास्त्र का लक्ष्य है।

4.6 परंपरागत जीवन चर्या (आचार परंपरा)

साधना के क्षेत्र में साधक को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु कुछ आचार परंपरा का निर्वाह करना पड़ता है। तंत्र साधना में भी प्रत्येक साधक को भिन्न–भिन्न श्रेणियों को पार कर अन्त में कौल की स्थिति प्राप्त करनी होती है। इसके लिए प्रमुख आचार निर्दिष्ट हैं–

1. **वेदाचार**–इसमें सभी साधकों को वैदिक नित्य कर्म करने पड़ते हैं। धर्म की दृढ़ता के लिए बाह्य एवं कर्मपरक पूजा और आराधना पर बल दिया गया है। यह आचार कर्मकाण्ड प्रधान है। इसका उद्देश्य एक सात्विक और सकारात्मक भावना को जागृत करना है जिससे व्यक्ति के विचार, व्यवहार और कर्मों में परिवर्तन हो। धर्म और नियमों से परिपूर्ण सात्विक जीवन पद्धति को अपनाना वेदाचार है।
2. **वैष्णवाचार**–इसमें साधक अंधविश्वास से निकलकर ब्रह्म की इच्छाशक्ति का ज्ञान करता है। यह स्थिति भक्ति प्रधान है। स्वयं पर और ब्रह्म पर जो आस्था उत्पन्न होती है वही वैष्णवाचार की ओर उन्मुख करती है।
3. **शैवाचार**–इसमें धर्म की रक्षा और अधर्म के विनाश की भावना साधक में होती है। यह ज्ञान प्रधान है। इसमें भक्ति और अन्तर्लक्ष्य का मेल होता है। इसके अंतर्गत अनेक प्रकार की साधनाएं हो सकती हैं। साधना स्वेच्छा से न होकर गुरु के निर्देशन से साधक की स्थिति के अनुसार होती है।
4. **दक्षिणाचार**–इसमें ब्रह्म की क्रिया, इच्छा, ज्ञान, शक्तियों का ध्यान, धारणा की जाती है। साधक गुण–त्रय से संबंध का अनुभव और पूर्णाभिषेक की स्थिति प्राप्त करता है।

उपर्युक्त चारों आचार दक्षिणाचार कहलाते हैं। मनुष्य इसका जन्म से ही अधिकारी है। यहां तक प्रवृत्ति मार्ग है। इसमें सभी प्रकार के योग के अभ्यास का उल्लेख मिलता है। योग के क्रमिक अभ्यास पर बल दिया गया है।

5. **वामाचार**– वामाचार को ग्रहण करने पर निवृत्ति मार्ग को ग्रहण किया जाता है। इस मार्ग में प्रवृत्ति का इस ढंग से उपयोग किया जाता है कि वह स्वयं ही विनष्ट हो जाये। इसमें साधक को आठ पाश (बन्धन) तोड़ने पड़ते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हैं। कुलार्णव तंत्र में कहा गया है कि वामाचार का अभ्यास वही साधक करे जो गुरु के निर्देशानुसार प्रवृत्ति मार्ग को छोड़ निवृत्ति मार्ग का अनुसरण कर सकता है अन्यथा इसका परिणाम बुरा ही होगा।

6. **सिद्धांताचार**–इसका उद्देश्य शिव तत्त्व को प्राप्त करना है। इसका अधिकारी दिव्य साधक ही होता है। यह मुक्ति का मार्ग है। इसमें गुरु निर्देश प्रमुख है। गुरु साधक की क्षमता और आवश्यकतानुसार इस मार्ग में बढ़ने के लिए एक बार प्रेरित कर देते हैं। फिर साधक स्वयं चलने लग जाता है क्योंकि वह स्वयं द्रष्टा होता है। अतः बार–बार निर्देश की अपेक्षा नहीं होती है।

7. **कौलाचार**–कौलाचार का तात्पर्य मोक्षावस्था या जीवन–मुक्ति से है। महानिर्वाण तंत्र में कुल की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "जो प्रकृति, जीवात्मा, काल और पंचभूतों में परमेश्वर का अनुभव करे वह कुल या कौल मार्ग का पथिक है।" जिस साधक की अद्वैत भावना पूर्ण तथा विशुद्ध है, वही वास्तविक कौल पद वाच्य है। वह समदर्शी व समता में प्रतिष्ठित होता है।

कौल मार्ग में **पंचमकार** साधना प्रमुख है। पंचमकार का रहस्य नितान्त गूढ़ है। वस्तुतः ये गोपनीय अनुष्ठान के प्रतीक हैं। इनका बाह्य एवं भौतिक अर्थ में प्रयोग करना यथार्थ से दूर जाना है। **मद्य** का अर्थ खेचरी मुद्रा की सिद्धि से है। **मांस** का तात्पर्य मन को ब्रह्मलीन कर मौन साधना से है। **मत्स्य** का अर्थ प्राणायाम की साधना से लिया गया है। **मुद्रा** का अभिप्राय आत्म–ज्ञान से तथा **मैथुन** का तात्पर्य परमतत्व की उपलब्धि से है। इस विवरण से स्पष्ट है कि पंचमकार का संबंध भीतरी यौगिक क्रियाओं से है।

कौल के दो मतों का उल्लेख मिलता है– पूर्व कौल एवं उत्तर कौल। उत्तर कौल मकारों का प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। सर्वसाधारण में तांत्रिक विधि विधानों को घृणित बताने की कल्पना का मूल उत्तर कौलों का यही वामाचार है। बहुत संभव है इन कौलों के आचार पर बाहरी अनार्य, विशेषतः तिब्बती तंत्रों का प्रभाव पड़ा हो क्योंकि कौलों के प्रधान तंत्र कुलार्णव में मद्य मांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की कड़ी निंदा की गई है। कौलाचार का मुख्य केन्द्र कामाख्या (आसाम) में स्थित है। यह कौलाचार ही वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। कुण्डलिनी शक्ति का अभ्युत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ जो सम्मेलन कराता है, वही कौल है। कुल या कुण्डलिनी शक्ति ही कुलाचार का मूल अवलबन है।

वेदाचार और वैष्णवाचार के अंतर्गत पशु साधक की शैवाचार में पशु और वीर साधकों की तथा दक्षिणाचार में वीर साधक की ही चर्चा होती है। वामाचार में वीर एवं दिव्य साधकों की तथा सिद्धान्ताचार और कौलाचार में दिव्य साधकों की ही चर्चा होती है। प्रारम्भ के चार प्रवृत्ति मार्ग से संबंधित तथा अंतिम तीन निवृत्ति मार्ग से संबंधित है। प्रारम्भिक पांच आचार में गुरु के सहयोग व सान्निध्य की अपेक्षा रहती है। अंतिम दो स्थिति में साधक को उपदेशक/गुरु की आवश्यकता साधना के दौरान नहीं रहती है। वे द्रष्टा होते हैं, स्वयं समर्थ हो जाते हैं।

4.7 साधना के प्रकार

भिन्न–भिन्न भाव वाले साधकों के लिए भिन्न–भिन्न साधना मार्ग या प्रकार हैं। स्वयं को जीव रूप समझकर पर ब्रह्म शिव को प्राप्त करने के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है वह शक्तिपूर्ण पुरुषार्थ है। इसे ही साधना कहते हैं। साधना की पद्धतियों को तीन भागों में विभाजित किया गया है– स्थूल साधना, सूक्ष्म साधना, परा साधना। **स्थूल साधना** में मूर्ति का प्रयोग किया जाता है। मूर्ति को ईष्ट या आराध्य मानकर साधना की जाती है। **सूक्ष्म साधना** में मूर्ति पूजा नहीं होती, यंत्र व मंत्र प्रयुक्त होते हैं। यंत्र को एक प्रतीक के रूप में धारण किया जाता है व मंत्र को मानसिक रूप से दोहराया जाता है। **परा साधना** में किसी भी प्रकार की बाह्य वस्तु की सहायता नहीं ली जाती। इसका प्रारम्भ होता है ध्यान से, एकाग्रता से एवं इसका लक्ष्य होता है मोक्ष। साधक अपनी साधना स्थूल से प्रारम्भ करते हैं। जब बाह्य प्रतीक पर मन एकाग्र हो जाता है और उसे बाह्य स्वरूप की आवश्यकता नहीं रहे तब आंतरिक साधना आरम्भ होती है। यहां यंत्र व मंत्र का सहारा लिया जाता है। अन्त में वह भी छूट जाता है। आध्यात्मिक साधना के रूप में ध्यान पर आरोहण होता है।

Patanjali Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.8 साधना के स्तर

साधना पद्धतियों के अभ्यास में साधक तीन अवस्थाओं से गुजरता है। अतः साधना के तीन हैं—शुद्धि की अवस्था, स्थिति की अवस्था, अर्पणा की अवस्था।

1. **शुद्धि की अवस्था**–शुद्धि का संबंध शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आत्मिक शुद्धि से है। शरीर की शुद्धि व संतुलन के लिए आसन, प्राणायाम एवं षट्कर्म का अभ्यास बताया गया है। मानसिक व भावात्मक शुद्धि के लिए यम, नियम द्वारा सात्विक जीवन पद्धति और प्रत्याहार तथा धारणा का अभ्यास किया जाता है। यह माना गया है कि शुद्धि के बिना आगे की साधना नहीं करनी चाहिए।
2. **स्थिति की अवस्था**–स्थिति का अभिप्राय अपने आपको एक व्यापक अनुभव में स्थित (स्थापित) करने से है। इसे आधार बनाकर आगे बढ़ना होता है। अधिकांश साधक इसी बिन्दु पर चूक जाते हैं, अटक जाते हैं, उलझ जाते हैं क्योंकि इस अवस्था में साधक को विभिन्न शक्तियों या सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इस प्राप्ति को एक आंतरिक अवस्था के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ना होता है। आसक्ति के वशीभूत वहीं रूकना अज्ञान और बन्धन है। ईशावस्योपनिषद् में कहा गया है कि विद्या (सिद्धियों) से भी मनुष्य अविद्या को प्राप्त करता है, अर्थात् आसक्ति वश साधना का विकास रुक जाता है।
3. **अर्पणा की अवस्था**–अर्पणा की अवस्था पूर्ण रूपेण समर्पण है। यह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की एकात्मकता है। इस एकत्व में लीनता अर्पणा की अवस्था है।

4.9 साधना की प्रमुख आवश्यकताएं

तंत्र परम्परा में शक्ति जागरण के लिए मंत्र, यंत्र, मण्डल और मुद्रा की आवश्यकता को प्रतिपादित किया गया है।

1. **मंत्र**–मंत्र का उद्देश्य शक्ति का जागरण है। मंत्र की ध्वनि तरंगें चेतना के सूक्ष्म आयामों को प्रभावित करते हुए शक्तियों को जागृत करती हैं। मंत्र के साथ कुछ और विधियां भी जुड़ती हैं, जैसे श्वास की पद्धति और प्रतीक पर ध्यान। इससे मंत्र के स्वरूप और गुण पर एकाग्रता बनी रहती है।
2. **यंत्र**–इसकी आवश्यकता मंत्र के साथ होती है। ये मंत्र के रहस्य और सिद्धान्त को दर्शाते हैं। शरीरस्थ विभिन्न चक्र भी यंत्र रूप में माने गये हैं।
3. **मण्डल**–ये यंत्र के ही बृहद् रूप हैं। मण्डलों में आणविक ब्रह्माण्ड और वृहद् ब्रह्माण्ड को जोड़कर इनके स्वरूपों को सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप से समझाने का प्रयास किया गया है।
4. **मुद्रा**–मुद्रा शब्द की अनेक परिभाषाएं हैं। मुद्रा शब्द 'मुद्' धातु से बना है। इसका अर्थ होता है मुदित होना या प्रसन्न होना। मुद्राएं अनेक प्रकार की होती हैं। तंत्र साहित्य में लगभग सौ मुद्राएं हैं। इनका उद्देश्य शरीर की शक्ति प्रक्रिया तथा प्राण–प्रक्रिया को संतुलित बनाये रखना है। प्राण शक्ति के संचरण को तीव्र करने हेतु भी मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है। (योग में मुद्रओं को मनोकायिक भावों से जोड़ा गया है। यौगिक मुद्राएं शारीरिक या मानसिक अवस्थाएं हैं जिनके द्वारा साधक अपनी चेतना को अंतर्मुखी बनाने में सफल होता है–जैसे शाभवी मुद्रा आदि।)

विद्वानों का मानना है कि तंत्र ग्रंथों की कठिन समाधि भाषा की मीमांसा करना सरल नहीं है। सच्चा साधक ही उसका सही अर्थ लगा सकता है किन्तु वह चुप रहना ही पसन्द करता है किंतु तंत्र गंथों के अनुशीलन से कई आध्यात्मिक प्रश्नों को समझने में सहायता मिलती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.10 साधना–उपक्रम

शिव–संहिता शैव साधना पद्धति का ग्रंथ है। इसे ईश्वर विरचित माना गया है। यह पांच पटलों (अध्यायों) में विभक्त है। प्रथम पटल में योग शास्त्र के महत्त्व के साथ लय प्रकरण का वर्णन है। द्वितीय में ज्ञानोपदेशक है। तृतीय में योगाभ्यास कथन है। चतुर्थ में मुद्रा एवं पंचम में साधक–लक्षण, मंत्र योग, लय योग, हठ योग, राज योग और ज्ञान योग का कथन है।

1 साधना का महत्त्व–शिव संहिता में साधना की महिमा बताते हुए कहा गया है–

आलोक्य सर्वशास्त्राणि

विचार्य च पुन पुनः।

इदमेकं सुनिष्पन्नं

योगशास्त्रं परं मतम्।।1/17

यस्मिन् याते सर्वमिदं

यातं भवति निश्चितम्।

तस्मिन् परिश्रमः कार्यः

कियन्यच्छास्त्र भाषितम्।।1/18

सभी शास्त्रों के अवलोकन व चिंतन के बाद यह पाया गया है कि निष्पत्ति तक पहुंचाने वाला योगशास्त्र ही श्रेष्ठ है क्योंकि इससे सभी आध्यात्मिक सिद्धांतों का निश्चयात्मक बोध अनुभव हो जाता है। अतः इस योग की प्राप्ति के लिए ही सारा प्रयत्न करना चाहिए। मात्र सैद्धान्तिक शास्त्रों से अनुभूति का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है।

तंत्र का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है कि जो ब्रह्माण्ड में है वह इस देह रूपी पिण्ड में विद्यमान है और जो इस शरीर में है वही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है। अतः इस शरीर को ही आध्यात्मिक प्रयोगशाला समझकर इसमें प्रयोग एवं अभ्यास पर अधिक से अधिक बल दिया गया है।

2. साधक की योग्यता–साधना में सफलता के लिए शिष्य की योग्यता व लक्षण बताते हुए कहा गया है कि–

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथम लक्षणम्।

द्वितीयं श्रद्धयायुक्तं तृतीयं गुरुपूजनम्।।3/19

चतुर्थ समताभावं पंचमेन्द्रिय निग्रहम्।

षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते।।3/20

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सिद्धि का प्रथम लक्षण है विश्वास का होना। दूसरा लक्षण है श्रद्धायुक्त अभ्यास करना। तीसरा है गुरु के प्रति समर्पण। चौथा है जीव मात्र के प्रति समता भाव। पांचवा इन्द्रिय निग्रह और छट्ठा है परिमित भोजन। इसके अतिरिक्त सातवां कोई नहीं है।

3. साधना के स्तर–श्वास–साधना के चार सोपान निम्न स्तर बताए गए हैं–

a) आरम्भ अवस्था–साधना का प्रारम्भ सामान्य तत्त्वज्ञान करने के पश्चात् श्वास की साधना से होता है। श्वास साधना में अन्तःकुम्भक की साधना की जाती है। यह अभ्यास दिन में चार बार करने का उल्लेख है– प्रातः, मध्यान्ह, सायं व मध्य रात्रि में।इस प्रकार दो मास तक अभ्यास करने से नाड़ी शुद्धि बतायी गई है। इस अभ्यास के परिणाम स्वरूप शरीर में विशिष्ट लक्षण प्रकट होने लगते हैं जैसे– शरीर में प्राण संतुलन, सुगंध, तेजस्विता और स्वर में मधुरता। नाड़ी शुद्धि के पश्चात् कुम्भक सिद्धि का अभ्यास चलता है। इसमें चार स्थितियां बनती हैं। पहली स्थिति में अभ्यास के दौरान शरीर में पसीना आता है। दूसरी स्थिति में शरीर में कम्पन्न होता है। तीसरी स्थिति में शरीर मेंढक की तरह उछलता है। चौथी स्थिति में आकाश गमन की स्थिति बनने का उल्लेख है। इसके बाद कहा गया है कि साधक अपने पुण्य–पाप रूपी कर्मों को प्राणायाम से नष्ट करने का यत्न करें। आगे अभ्यास से साधक में जब तीन घड़ी (72 मिनट) तक अन्तःकुम्भक करने की क्षमता आ जाती है तो उसमें अनेक प्रकार की सिद्धियां प्रकट होती हैं जैसे–अष्ट सिद्धि, वाक सिद्धि, स्वेच्छा–गमन, दूर–दर्शन, दूर–श्रवण, सूक्ष्म दृष्टि एवं परकाया प्रवेश, मल–मूत्र औषधि और आकाश गमन।

b) घट अवस्था–जब साधक में एक प्रहर (तीन घंटा) तक अन्तः कुम्भक करने की क्षमता आ जाती है तब उसे घट अवस्था की प्राप्ति होती है। इसमें प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा एकीभूत हो जाते हैं। वह अब प्रत्याहार को सिद्ध करें, इन्द्रियजयी बनें। यहां कहा गया है कि–

य यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत्।

यैरिन्द्रियैर्यद्विद्यानस्तदिन्द्रयजयो भवेत्।।3/68

योगी को जिस जिस पदार्थ की जानकारी हैं, उन सभी पदार्थों में आत्मा की भावना करनी चाहिए।

c) परिचय अवस्था–इस अवस्था में वायु चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी का त्यागकर सुषुम्ना में स्थिर, निश्छल हो जाती है। योगी अब षट् चक्रों के भेदन की दिशा में आगे बढ़ता है। वह पंचभूतों की धारणा करता है। उसे सिद्ध कर प्रत्येक चक्र में पंच घटिका (दो घंटे तक) साधना करते हुए अपने कर्म–मल को इस काय–व्यूह से क्षीण करता है।

d) निष्पत्ति अवस्था–उपरोक्त अभ्यास करता हुआ अनादि कर्म बीजों को नष्ट कर देता है। सब चक्रों को जीतकर आत्म–ज्ञान में विलीन हो जाता है। स्वतः समाधि लग जाती है। वह धीर, शान्त जीवन मुक्त हो जाता है।

साधना में आने वाले विघ्नों के निवारण के लिए विभिन्न प्रकार के प्राणायाम बताये गये हैं। प्रारम्भिक अभ्यास में कुम्भक करते समय मुद्राओं के भी अभ्यास करने का उल्लेख किया गया है। साथ में यह भी कहा गया है कि गुरु–शिष्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को मंत्र–दीक्षा देकर विशिष्ट मुद्रा (योनि मुद्रा) का उसे हजार बार अभ्यास करवाये एवं साधक मूलाधार में ध्यान करे तो उसे मंत्र सिद्धि अवश्य होती है।

4 साधकों के प्रकार–शिव संहिता में योग के चार प्रकार बताये गये हैं– मंत्र योग, लय योग, हठ योग और राज योग। इसके अतिरिक्त राजाधिराज योग अर्थात् ज्ञान योग का भी निरूपण किया गया है। इन सभी का विस्तार से विधि युक्त वर्णन भी मिलता है। इनकी साधना करने वाले साधकों के भी चार प्रकार बताये गये हैं– मृदु, मध्यम, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

a) मृदु साधक के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह मन्द उत्साह वाला, मूढ़ चेता, व्याधि से ग्रस्थ, गुरु निन्दक (दोष–दर्शी), लोभी, पाप बुद्धि से युक्त, बहुभोजी, स्त्री वशवर्ती, चपल चित्त, कातर, रोगी पराधीन, अत्यन्त निष्ठुर, मन्द (तुच्छ) आचार वाला, मन्द वीर्य वाला होता है। ऐसा साधक मंत्र योग का अधिकारी होता है। गुरु प्रसाद प्राप्त करके प्रयत्न पूर्वक साधना करने वाले पुरुष को बारह वर्ष में सिद्धि की प्राप्ति होती है।

b) मध्यम साधक के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह सम बुद्धि, क्षमावान् पुण्य का आकांक्षी, मधुर भाषी, मध्यस्थ, सब कार्यों में सामान्य क्षमता वाला होता है। ऐसा साधक लय योग का अधिकारी होता है।

c) अधिमात्र साधक के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह स्थिर बुद्धि वाला, लय योग में तत्पर, स्वतंत्र, वीर्यवान्, विस्तृत दृष्टिकोण वाला (महाशय), दयालु, क्षमावान्, सत्यवान्, श्रद्धालु, गुरु के प्रति समर्पित, शूर (साहसी) एवं वय प्राप्त होता है। ऐसा साधक हठ योग का अधिकारी होता है। छः वर्ष तक निरन्तर अभ्यास से सिद्धि प्राप्त होती है।

d) अधिमात्रतम साधक के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह महान् वीर्यवान्, उत्साही, शूरवीर, शास्त्रों का अभ्यासी, निर्मोही, निराकुल, नवयौवन सम्पन्न, मिताहारी, जितेन्द्रिय, निर्भय, पवित्र, दक्ष, दाता, उदार, आश्रयदाता, अधिकारी, बुद्धिमान्, संतोषी, क्षमाशील, सुशील, धर्माचारण करने वाला, गोपनीय रखने वाला गंभीर, प्रियभाषी, शास्त्र–निष्ठा, देव–गुरु– समर्पित, संग रहित, एकान्त प्रिय, महाव्याधि रहित होता है। वह सब योगाभ्यास में तत्पर रहता है। वह सब योगों का अधिकारी होता है। उसे तीन वर्ष में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार तंत्र साधना का आधार या प्रारम्भिक बिन्दु शक्ति साधना रहा है। इसके पश्चात् साधक कर्म क्षय व आत्मध्यान की ओर लग जाता है। वह अपने अंतिम लक्ष्य परम समाधि को प्राप्त करता है। शक्ति शिव में लीन हो जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

I. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. तंत्र श्ब्द क्या अर्थ है?
2. तंत्र की प्रमुख श्रेणियां कौन सी हैं?
3. तंत्र साधना के प्रमुख सिद्धांत कितने हैं?
4. तंत्र के अनुसार चक्रों की संख्या कितनी है?
5. तंत्र के अनुसार साधना के प्रकार कितने हैं?

II. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. तंत्र के स्वरूप को समझाइए।
2. तंत्र की प्राचीनता को समझाइए।
3. तंत्र के दार्शनिक आधार को बताइए।
4. पंचमकार को स्पष्ट कीजिए।
5. तंत्र साधना में साधकों के प्रकारों को बताइए।

III. निबंधात्मक प्रश्न

1. तंत्र के स्वरूप एवं इसकी प्राचीनता को समझाइए।
2. तंत्र के दार्शनिक आधार एवं साधना के सिद्धांतों को स्पष्ट कीजिए।
3. तंत्र में आचार परंपरा एवंसाधना हेतु आवश्यकताओं को बताइए।

4.12 संदर्भ पुस्तकें

1. परमहंस निरंजनानन्द–तंत्र–दर्शन, बिहार योग विद्यालय, मुंगेर प्रथम संस्करण–1993
2. डॉ. श्रीकृष्ण ओझा–प्राचीन भारतीय चितन का इतिहास, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर
3. N. N. Bhattacharya-History of Tantric Religion
4. डॉ. सागरमल जैन–जैन धर्म और तांत्रिक साधना, (भूमिका–डॉ. नंदलाल जैन) पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी–5
5. डॉ. चमनलाल गौतम–शिव–संहिता 1982, संस्कृति सस्थान, ख्वाजा कुतुब (देवनगर), बरेली, उत्तरप्रदेश।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 5 : जैनयोग एवं बौद्ध योग

इकाई की संरचना

(क) जैन योग

5.0 उद्देश्य

5.1 जैन योग : दार्शनिक आधार

5.2 ध्यान की परिभाषाएं

5.3 ध्यान के प्रकार

5.3.1 आर्त ध्यान

5.3.2 रौद्र ध्यान

5.3.3 धर्मध्यान

5.3.4 शुक्लध्यान

5.4 जैन योग में भावनाएं

(ख) बौद्ध योग

5.5 उद्देश्य

5.6 बुद्ध का संक्षिप्त जीवन परिचय

5.7 दार्शनिक आधार

5.8 आर्य सत्य

5.9 आष्टांगिक मार्ग

5.10 ध्यान का उद्देश्य

5.11 समाधि

5.11.1 रागाधि के प्रकार

5.11.2 समाधि का अभ्यास

5.11.3 भौतिक बाधाएं

5.11.4 ध्यान वस्तु

5.12 साधक की प्रकृति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.13 प्रकृति के अनुरूप ध्यान वस्तु

5.14 उपयुक्त वातावरण

5.15 समाधि की भूमिकाएं

5.15.1 ध्यान के चार प्रकार

5.16 विपश्यना ध्यान

5.17 अभ्यास प्रश्न

5.18 संदर्भ ग्रंथ

(क) जैन योग

5.0 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के पश्चात् निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है-

1. जैन योग के दार्शनिक आधार को समझ पाएंगे।
2. जैन योग में ध्यान के विभिन्न प्रकारों को जान पाएंगे।
3. जैन योग के अंतर्गत निर्दिष्ट भावनाओं को जान पाएंगे।

भारतीय दर्शनों में जैन योग का भी अपना विशेष स्थान है। यह जिन दर्शन पर आधारित है। जिन शब्द का अर्थ है विजेता अर्थात् आत्म विजेता। जीवन मुक्त योगी या राग–द्वेष को जीतकर स्व स्वरूप को प्राप्त करने वाले को भी जिन कहा जाता है। पारंपरिक इतिहास के अनुसार जैनयोग के आदि प्रणेता प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव थे। चौबीसवे एवं अंतिम तीर्थकर भगवान महावीर थे। उन्होंने कठिन तपस्या व ध्यान की साधना कर केवलज्ञान की प्राप्ति की। जैन दर्शन का वैचारिक पक्ष इसके चार प्रस्थान हैं–विश्व का व्यापक स्वरूप, दर्शन का अनेकान्तिक स्वरूप, आचार विशुद्धि और मनोवैज्ञानिक तर्कवाद। जैनदर्शन के अनुसार जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। व्यक्ति ही भले कोई भी हो, किसी भी जाति का हो, किसी भी संप्रदाय का हो या किसी भी वर्ग का हो, साधना के द्वारा 'जिन' की अवस्था तक पहुंच सकता है साथ ही अपने आप को सिद्ध की स्थिति में पहुंचा सकता है अथवा मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है। जैन परंपरा में इस स्थिति को प्राप्त करने हेतु विकास की निम्न अवस्था से उच्च अवस्था को जो सोपान है, उसे गुण स्थान कहा गया है जिनकी संख्या चौदह है। साधना के विकास क्रम में साधक आगे बढ़कर जब अंतिम गुणस्थान में पहुंचता है तो वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

5.1 जैन योग : दार्शनिक आधार

प्राणी का अस्तित्व है जड़ और चेतन का समन्वय। जड़ शरीर है तो चेतन आत्मा। जैन दर्शन का दार्शनकि आधार भी यही है द्वंद्वात्मक अस्तित्व। वस्तुतः दोनों का ही अपना भिन्न अस्तित्व है पर सृष्टि क्रम में ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। चेतन सर्वज्ञानी है, सर्वशक्तिमान, और सर्वव्यापी है पर उसको भी अभिव्यक्ति के लिए जड़ यानि शरीर की आवश्यकता होती है। अर्थात् चेतन की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही हो सकती है। यह क्रम अनंत काल से चला आ रहा है। जीवन के इस क्रम में राग–द्वेषात्मक वृत्ति प्रमुख है जिस कारण से अनेक कर्म बंधन रूप बन जाते हैं। इन्हीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के अनुरूप मानव प्राणी कर्मफलों को सुख–दुःख रूप में भोगता है। यही क्रम अनवरत चलता रहता है। ज्ञानी पुरुषों का मानना है कि मानव को अपने वास्तविक अस्तित्व का ज्ञान होना चाहिए, उसे पहचानना चाहिए, उसका साक्षात्कार करना चाहिए ताकि कर्मबंधनों से मुक्त हुआ जा सके।

जैन दर्शन आत्मा को आत्मा को परिणामी नित्य मानता है अर्थात् यह एक ओर नित्य है तो दूसरी ओर परिणमनशील, परिवर्तनशील है। इसका वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है पर जड़ के संपर्क में आने पर इसका वास्तविक स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए कहा गया है कि दर्पण का अपना अलग स्वरूप है। उसके सामने जो भी वस्तु आती है, उसका प्रतिबिंब उस पर पड़ता है। कहने का तात्पर्य है कि आत्मा पर भिन्न–भिन्न कर्मों का प्रभाव पड़ता है। तब आत्मा का वास्तविक स्वरूप कहीं ओझल हो जाता है। इसीलिए संसारी आत्मा को अशुद्ध कहा गया है क्योंकि वह कषाय से बद्ध है। चार प्रमुख कषाय माने हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। इनका प्रभाव जितना ही अधिक होता है, आत्मा उतनी ही आच्छादित रहती है। जब आत्मा आच्छादित रहेगी तो आचार–व्यवहार का पक्ष भी सकारात्मक नहीं हो सकता है। अतः आत्म शुद्धि को महत्त्व दिया गया है जिसके लिए आवश्यक है साधना। उसके कई रूप हो सकते हैं। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मुख्यतया दो तत्त्वों का विस्तार नौ तत्त्वों तक मिलता है। इनमें हैं–

1. **जीव**–आत्मा, चेतन तत्त्व।
2. **अजीव** –जड़ शरीर।
3. **पुण्य**–सत्कर्म
4. **पाप**– असत् कर्म
5. **आश्रव**–कर्म परमाणुओं को आकर्षित करना।
6. **संवर**–नए कर्मों को रोकना।
7. **निर्जरा**–बंधे हुए कर्मों को भेदन करना, उन्हें दूर करना।
8. **बंध**–कर्म संस्कारों का बंधा होना।
9. **मोक्ष**–आत्मा और कर्मों का आत्यंतिक विच्छेद।

चूंकि बंध का कारण आश्रव है जो कर्म परमाणुओं को अपनी ओर आकर्षित करता है जिसका प्रतिपक्ष संवर है जो अनागत कर्मों को रोकता है। अर्थात् ये दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। आश्रव हैं– मिथ्यात्व या अविद्या, अविरति, प्रमाद कषाय और योग। संवर हैं–सम्यकत्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। इनका विवरण निम्न है–

1. **मिथ्यात्म / सम्यकत्व**–मिथ्यात्व का अर्थ है असत्य ज्ञान जिसमें मानव अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है। इसके विपरीत सत्यकत्व है सत्य ज्ञान अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप का चिंतन, उसका साक्षात्कार करना।
2. **अविरिति / विरति**–अविरति है आसक्ति और विरति है त्याग।
3. **प्रमाद / अप्रमाद**–प्रमाद है विृति, अनुत्साह, सत्कर्न के प्रति अनुत्साह का होना और अप्रमाद है जागरूकता, स्व बोध क प्रति उत्साह का होना।
4. **कषाय / अकषाय**–कषाय है निषोत्मक संवेग और अकषाय है सकारात्मक संवेग।
5. **योग / अयोग**–मन, वचन और काया की प्रवृत्ति योग है तो इनकी स्थिरता, इन्हें अपने स्वरूप में अवस्थिति होना अयोग है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन परंपरा में माना गया है कि कोई भी आत्मा परमात्मा बन सकती है। इसके लिए ध्यान साधना, तप आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है।

5.2 ध्यान की परिभाषाएं

जैन परंपरा में योग के लिए अधिकतर ध्यान शब्द का ही उपयोग हुआ है। ध्यान को सामान्यतया किसी एक विषय पर केन्द्रित होना माना है। ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा है–

1. अनेक अर्थों का आलंबन देने वाली चिंता का निरोध ध्यान है। (तत्त्वार्थ सूत्र)
2. चिंता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता ध्यान है। (भगवती आराधना)
3. राग–द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान ही ध्यान है (भगवती आराधना)
4. दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित चेतना की अवस्था ध्यान है। (कुंदकुंद पंचास्तिकाय)

5.3 ध्यान के प्रकार

जैन परंपरा में ध्यान को प्रशस्त और अप्रशस्त दो भागों में बांटा गया है–प्रशस्त और अप्रशस्त। अप्रशस्त ध्यान राग और द्वेष जनित होने के कारण बंधन युक्त है तो प्रशस्त ध्यान कषाय भाव से मुक्त होने के कारण मुक्ति का हेतु है। जैन परपरा में मुख्यतया चार प्रकार के ध्यान का वर्णन किया गया है जिनमें प्रथम दो अप्रशस्त और पश्चात् के दो प्रशस्त हैं। अतः चार ध्यान निम्न हैं–

5.3.1. आर्त ध्यान

ऋते भवम आर्तम् –इस निरुक्ति के अनुसार ऋत अर्थात् दुःख के निमित्त से होने वाला अध्यवसाय आर्त ध्यान है। इस ध्यान में हिंसा आदि क्रूर चिंतन बना रहता है। सामान्यतया संसारवर्ती जीव अपने शुभ–अशुभ कर्मों के उदय के कारण शुभ–अशुभ फल भोगता रहता है। अतः इस संयोग–वियोग से मन में अनेक संकल्प–विकल्पों का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक ही है। यही स्थिति आर्त ध्यानी की भी है। आर्तध्यानी सुख भोगों में अत्यंत आसक्त रहता है। दूसरों के पास अधिक वस्तुएं देखकर, सुनकर भी उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है। यह भोग की इच्छा वृत्ति जीवन भर चलती रहती है लेकिन तृप्ति नहीं होती है। ऐसा व्यक्ति वास्तव में सुखी नहीं रह सकता है, शांत नहीं रह सकता है और कषायों के बंधन में पड़ता जाता है। अतः यह ध्यान मुक्ति नहीं वरन् बंधन का कारण है इसीलिए यह अप्रशस्त या अशुभ ध्यान के अतंर्गत आता है। आर्त ध्यान के भी चार प्रकार हैं–

1. **अमनोज्ञ अनिष्ट संयोग**–इस ध्यान के अंतर्गत अमनोज्ञ अनिष्ट विषयों का संयोग होता है। कुछ विषय ऐसे भी होते हैं जो हमें अच्छे नहीं लगते हैं, हमें इष्ट नहीं होते हैं और इनसे हम छुटकारा पाना चाहते हैं। यह स्वाभाविक भी कि है प्रत्येक प्राणी अनिष्ट को दूर करना चाहता है, इष्ट की प्राप्ति चाहता है लेकिन जब तक उनका संयोग होगा तब तक तो न चाहते हुए भी उनसे छुटकारा नहीं पा सकते हैं। इस संदर्भ में अमनोज्ञ अनिष्ट ध्यान भी इसी श्रेणी में आता है। जब अनिष्ट विषयों का संयोग होता है तो मन इससे खिन्न रहता है, दुःखी रहता है। उनके वियोग का विचार भी बना रहता है। अर्थात् मन को न भाने वाले जो अनिष्ट विषय हैं उनसे मुक्ति की भावना बनी रहना अमनोज्ञ अनिष्ट संयोग ध्यान क अंतर्गत आता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. **मनोज्ञ इष्ट संयोग**–मनोज्ञ इष्ट संयोग वह है जिसमें मन को अच्छे लगने वाले विषयों का संयोग होता है। इस अवस्था में मन ऐसे विषयों का कदापि वियोग नहीं चाहता है अर्थात् उस सुखानुभूति का वह वियोग नहीं चाहता है। अतः इष्ट विषयों का वियोग न हो, इस प्रकार के विचारों से मन विचलित रहना मनोज्ञ इष्ट संयोग के अंतर्गत आता है। आसक्त प्राणी सदैव अभीष्ट विषयों का, इच्छित विषयों का ही संयोग चाहता है। यदि वर्तमान में वह सुख प्राप्त नहीं है तो भविष्य में उसे कैसे प्रप्त किया जा सकता है–ऐसी इच्छा बनी रहना इस ध्यान का लक्षण है।

3. **आतंक आर्त ध्यान**–यह ध्यान भय के निमित्त से होने वाला ध्यान है। कोई रोग होने या प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भयप्रद होना या उसके प्रतिकार के लिए मन का व्याकुल होना या उसके वियोग के लिए निरंतर चिंतन करना आतंक आर्त ध्यान है।

4. **भोगेच्छा आर्तध्यान**–भोग की इच्छा रखना ही भोगेच्छा आर्तध्यान है अथवा पांचों इंद्रियों संबंधी काम भोग की इच्छा रखना या इच्छा का होना भोगेच्छा आर्तध्यान के अंतर्गत ही आता है। पांच इंद्रियों के अपने–अपने विषय है और उनके अपने–अपने रस हैं। इन रसों का स्वाद लेने या इन रसों का आनंद लेने की इच्छा करना, ऐसे विचारों में निमग्न रहना, भोग की इच्छा भोगेच्छा आर्त ध्यान है।

आर्तध्यान के लक्षण – आर्तध्यान के निम्न लक्षण हैं–

1. **क्रंदन करना**–क्रंदन का अर्थ है रोना, रुदन करना आदि। अतः इस ध्यान में व्यक्ति रोता है, चिल्लाता है जिसके पीछे कारण निहित होता है इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग। अर्थात् इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग होने पर क्रंदन करना आर्तध्यान का लक्षण है।

2. **सोचना**–आर्तध्यान के अंतर्गत सोचना, विचारना, उदासीन होना, असामान्य व्यवहार करना आदि लक्षण होते हैं। यह सामान्य सी बात है कि जब व्यक्ति चिंता, कुंठा आदि में होता है तो वह अधिक सोच–विचार करता है।

3. **आंसू बहाना**–एक स्थिति ऐसी भी होती है कि जब अनष्टि के भय से, इष्ट के वियोग से या उसे पाने लिए दुःखी व्यक्ति आसूं भी बहाने लगता है। अतः असर्तध्यान का एक लक्षण आंसू बहाना भी है।

4. **विलाप करना**–विलाप के अंतर्गत व्यक्ति जोर–जोर से रोता है। छाती पीटना, भयंकार शब्दों का प्रयोग करना या दीन–हीन शब्दों का प्रयोग करना, झगड़ा करना आदि भी आर्तध्यान के ही लक्षण हैं।

5.3.2. रौद्र ध्यान

रौद्र का अर्थ है भयानक। इस ध्यान के अंतर्गत क्रूरता का चिंतन होता है। सामान्यतया जब व्यक्ति विषय भोगों में आसक्त हो जाता है या मूच्छित हो जाता है तब उसे अच्छे–बुरे का भान नहीं रहता है, कर्तव्य–अकर्तव्य का बोध नहीं रहता है और तब ही उसके भीतर में, उसके चिंतन में, उसके व्यवहार में जड़ता, कठोरता, क्रूरता आदि आ जाती है। ऐसा कार्य या ऐसा व्यवहार न तो व्यक्ति के लिए सुखद होता है और न ही ही दूसरों के लिए। प्राप्त वस्तुओं को बनाए रखने के साथ ही अप्राप्य मनोज्ञ विषयों अथवा सुखकर विषयों को प्राप्त करने के लिए दूसरों की हिंसा करने, झूठ बोलने, दूसरों के वस्तुओं के हरण करने, उन्हें अपनी रक्षा हेतु अपने अधीन करने की वृत्ति व्यक्ति में पाई जाती है। इतना ही न ही, ऐसी वृत्ति से दूसरों को मिलने वाले कष्ट से भी उसे न वेदना होती है और न ही करुणा भाव ही रहता है। अर्थात् वह वेदना शून्य करुणा शून्य या सहानुभूति शून्य होता है या यों कह सकते हैं कि वह ह्रदय शून्य होता है। यह बहुत ही भयानक मनोदशा मानी गई है जो रौद्र ध्यान के अंतर्गत पाई जाती है।

रौद्र ध्यान के प्रकार–रौद्र ध्यान के भी चार प्रकार बताए गए हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. **हिंसानुबंधी**–इस ध्यान के अतंर्गत चित्त में निरंतर हिंसा वृत्तियों की तन्मयता रहती है। जब व्यक्ति क्रोध रूप पिशाच के वशीभूत हो जाता है तो उसका हृदय निर्दयी, क्रूर हो जाता है तत्पश्चात् वह किसी भी प्राणी का वध करने (चाबुक आदि से ताड़ित करना), वेधन करने की, (कील आदि से नासिका आदि को वेधना या छेदना), बंधन करने, (रस्सी आदि से बांध कर रखना), दहन करने, (आग आदि से जलाना), अंकन करने (तपी हुई लोहे की शलाका आदि से दागना या चिह्नित करना), मारण करने (प्राणों का अंत करना) आदि का या तो संकल्प करता है या उन कार्यों को न करते हुए भी उनका विचार होता है। इन कार्यों को करते हुए व्यक्ति का हृदयशून्य हो जाना साथ ही पीड़ित को देखते हुए हर्ष का अनुभव करना रौद्र ध्यान के ही लक्षण हैं। अतः हिंसा जनक कार्यों को मन, वचन और काया से करना, करवाना और अनुमोदन करना ही हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान है।
2. **मृषानुबंधी रौद्र ध्यान**–मृषा का अर्थ है झूठ। इस ध्यान के अंतर्गत असत्य भाषणों में चित्त की एकाग्रता होती है। मायाचार व दूसरों को ठगने में, अदृश्य पापयुक्त अंतःकरण वाले व्यक्ति का असभ्य, झूठे वचनों में प्रवृत्त होना या प्रवृत्त न होने पर भी उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय का होना रौद्र ध्यान का ही परिचायक है। वाणी की चतुराई से असत्य भाषण करके दूसरों को मोहित कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना, दूसरों की झूठी प्रसंशा कर गलत को सही बताकर उसके मूल्य को अधिक लेना, पुरानी वस्तुओं को नया रूप देकर बेचना, अपनी बौद्धिक निपुणता से सत्य को असत्य और असत्य को सत्य साबित करना, झूठे आश्वासन व प्रलोभन देना, धोखाधड़ी करना, दूसरों को भ्रमित करना, मिथ्या आडंबरों से स्वयं अपनी प्रतिष्ठा पाकर प्रसन्न होना आदि मृषानुबंधी रौद्र ध्यान के अंतर्गत आता है। कहने का तात्पर्य है कि झूठ का सहारा लेकर स्वयं की स्वार्थ पूर्ति करना या ऐसे विचारों में चित्त एकाग्र होना मृषानुबंधी रौद्र ध्यान है।
3. **स्तेनानुबंधी रौद्र ध्यान**–स्तेय अर्थ है चोरी। इसमें चित्त में निरंतर चोरी करने की एकाग्रता बनी रहती है। ऐसे में चोरी करने की सदा चिंता करना, चोरी करके अति हर्ष मनाना, दूसरों के द्वारा चोरी करवाना, चोरी के लाभ पर प्रसन्न होना, चोरी करने के गुर बताने वाले की प्रशंसा करना आदि स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान है। कहने का तात्पर्य है मन, वचन और काया से किसी दूसरे की अनुमति या आज्ञा के बिना ही उसकी वस्तु पर अपना अधिकार करना, वस्तु का अपरण करना, उसे छीनना, जबरन अपना आधिपत्य स्थापित करना और इसमें प्रसन्नता का अनुभव करना स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान है।
4. **संरक्षानुबंधी रौद्र ध्यान**–इसमें परिग्रह के अर्जन और उनके संरक्षण संबंधी चित्त की एकाग्रता होती है। अपनी अर्जन की हुई वस्तु के खो जाने के भय, उसके नष्ट हो जाने के भय साथ ही उसके संरक्षण की चिंता व भयभीत रहना विषय संरक्षण रौद्र ध्यान है। सामान्यतया व्यक्ति अपनी वस्तुओं या पदार्थों का संरक्षण तो करता ही है लेकिन उसके प्रति अतिशय भयभीत होना या संरक्षण के प्रति चिंतित होना सामान्य से परे की बात हो जाती है। अतः ऐसे में व्यक्ति का पूरा ध्यान, पूरी ऊर्जा इसी चिंतन–मंथन में, इसी भय में खपती है। वह बंधन युक्त होता है, कषाय युक्त होता है। अतः ऐसा व्यक्ति वास्तव में सुखी व प्रसन्न नहीं रह सकता है।

रौद्र ध्यान के लक्षण–रौद्र ध्यान के निम्न लक्षण हैं–

1. **अवसन्न दोष**–रौद्र ध्यानी विषय भोगों, कामनाओं, वासनाओं राग–द्वेषादि दोषों में खिन्न अर्थात् दुःखी तो रहता ही है साथ ही उसे दूसरों को देखकर भी खिन्नता होती है।
2. **बहुल दोष**–ऐसे व्यक्ति में हिंसा, चोरी, झूठ आदि दोषों की बहुलता यानि अधिकता आ जाती है। कहने का तात्पर्य है कि रौद्रध्यान में ये दोष सामान्य से अधिक पाए जाते हैं।
3. **अज्ञान दोष**–अज्ञान की दुःख का कारण है, अज्ञान ही सब दुःखों का मूल है। रौद्रध्यानी अज्ञानतावश हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्प्रवृत्तियों को ही अपने सुख का हेतु मानता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. **आमरणांत दोष**–रौद्र ध्यानी की बुद्धि हिंसा आदि दुष्कर्मों या दुष्प्रवृत्तियों में होती है। अतः वह उन्हें जीवन पर्यंत बनाए रखना चाहता है। यदि बुद्धि का ही विपर्यय है तो चाहते हुए भी सही मार्ग पर चलना सरल कार्य भी नहीं होता है। अतः ऐसे में सारे दोष जीवन पर्यंत चलते रहते हैं।

ये चारों दोष या चारों ध्यान उस व्यक्ति के होते हैं जो राग–द्वेष और मोह से अति व्याकुल होता है।

5.3.3. धर्मध्यान

धर्म विषयक चिंतन ही धर्मध्यान है। कहा है कि **वत्थु सहावो धम्मो** अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है। जो गुण पदार्थ में स्वतः विद्यमान हो, वह स्वभाव कहलाता है और जो गुण पदार्थ में दूसरे के निमित्त से उत्पन्न हुआ हो वह विभाव कहलाता है। जैसे जल की शीतलता उसका धर्म है, ऊष्णता उसका विभाव है क्योंकि वह अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव निर्विकारिता, शुद्धता, मुक्तता, चिन्मयता, अजरता, अमरता, सत्यता, ज्ञान, सुख आदि है। इनकी प्राप्ति में किसी दूसरे की आवश्यता या अपेक्षा न होने के कारण ये आत्मा के धर्म है। इसके विपरीत, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, हिंसा, चोरी आदि सब विभाव हैं, विकार हैं क्योंकि ये किसी दूसरे द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। अतः विभाव ही अधर्म है। अधर्म आत्मा के लिए अहितकर, है, दुःखकर है, पीड़ादायक है, क्लेशकर हेय और त्याज्य है। इसके विरीत धर्म आत्मा के लिए हितकर है, सुखकर है, श्रेयस्कर है, आपेक्षीय है, स्वीकार्य है। अतः विभाव रूपी अधर्म को दूर करने हेतु स्वभाव रूपी धर्म ध्यान की आवश्यकता होती है। अतः कह सकते हैं कि कषायों को दूर करने हेतु निर्जरा का मार्ग या मोक्ष का मार्ग ही धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के प्रकार–धर्मध्यान के निम्न प्रकार हैं–

1. **आज्ञा विचय**–आज्ञा विचय का अर्थ है आज्ञा का विचार या अनुचिंतन करना। जो आज्ञा सर्वहितकारी हो, ऐसी आज्ञा का विचार करना आज्ञा विचय है। ऐसी हितकारी आज्ञा सामान्य पुरुष की नहीं वरन् अतिसामान्य पुरुष की ही हो सकती है। वह अतिसामान्य पुरुष है वीतराग महापुरुष। यों तो राग–द्वेष दुःख के सबसे बड़े कारण हैं पर उनमें राग अधिक दुःखकर है। राग के कारण ही द्वेष भी उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ किसी वस्तु या पदार्थ के प्रति जब अधिक राग होता है तो उसके दूर होने पर उतना ही कष्ट का अनुभव भी होता है। यदि कोई उस वस्तु या पदार्थ को क्षति पहुंचाता है या उसे अधिग्रहण कर लेता है जो उस व्यक्ति के प्रति द्वेष की भावना का होना भी असंभव नहीं है। अतः राग को जीतने वाला पुरुष जितेन्द्रिय हो जाता है। ऐसे पुरुष की आज्ञा सदैव ही श्रेयस्कर होती है। इसके विपरीत जिसका हृदय राग–द्वेषादि विषय कषायों में लिप्त रहता है, उनसे कलुषित रहता है और छदमस्थ रहता है ऐसे अपूर्ण पुरुष की आज्ञा न तो स्वहितकारी हो सकती है और न ही परहितकारी या सर्वहितकारी। ऐसे पुरुष का धर्मध्यान के क्षेत्र के कोई स्थान नहीं होता है। यह सत्य भी है कि जो स्वयं विकारी हो, क्लेशयुक्त हो, कर्मबंधनों से युक्त हो अर्थात् अपूर्ण हो, वह स्वभाव के विपरीत कार्य नहीं कर सकता है। अतः ऐसे में उसकी आज्ञा कल्याणकारी हो, सर्वहितकारी हो, संभव नहीं हो सकता है। सर्वहितकारी आज्ञा तो वास्तव में पूर्ण पुरुष की ही हो सकती है अर्थात् जिसने कषायों पर विजय पा ली हो, जो बंधनमुक्त हो गया हो अर्थात् जिसने इंद्रियों पर विजय पा ली हो वही सर्वहितकारी हो सकता है।

   सामान्यतया जीवन के विकास क्रम की अनेक अवस्थाएं होती है। इन अवस्थाओं में भिन्न–भिन्न लोगों के मार्गदर्शन की, उनकी आज्ञा की, उनके सुझावों की बहुत ही अपेक्षा रहती है। तभी मानव प्राणी अनेक अवस्थाओं में बुद्धि, से आचार–व्यवहार से परिपक्व होता जाता है, परिष्कृत होता जाता है। उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध उसे दूसरों से सीखने पर मिलता है चाहे वह देखकर हो, सुनकर हो या पढ़कर हो। कहने का तात्पर्य है कि विकास दूसरों के सहयोग के बिना नहीं हो सकता है। यह हो भी क्यों नहीं क्योंकि मानव प्राणी सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना उसका अस्तित्व ही नहीं है। अतः समाज में रहकर ही वह अपनी क्षमताओं, शक्तियों, योग्यताओं आदि को बढ़ा सकता है, अपने जीवन की दिशा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को सही आकार–प्रकार दे सकता है, स्वहित तथा परहित की भावना से ओतप्रोत हो सकता है। अतः सामान्य जीवन हो या आध्यात्मिक जीवन, दोनों में मार्गदर्शन की आवश्यकता सदैव रहती ही है।

अध्यात्म का मार्ग सामान्य मार्ग से भिन्न है। यहां पदार्थ जगत का नहीं अपितु अपदार्थ जगत का मार्ग है। अतः यहां की यात्रा के लिए भी, इस दिशा में विकास करने हेतु भी ऐसे व्यक्तित्व के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है जो उस विषय का ज्ञाता हो, उस विषय में पूर्णता प्राप्त हो। अतः ऐसे मार्ग वीतराग पुरुष की आज्ञा ही सर्वश्रेष्ठ है। ऐसे पुरुष की आज्ञा के पालन में ही साधक का हित निहित है क्योंकि उसकी आज्ञा साधक के लिए हितकारी, विघ्नों को दूर करने वाली, प्रगति पथ पर आगे बढ़ाने वाली, जीवन को सफल बनाने वाली, सिद्धि दिलाने वाली, मुक्ति दिलाने वाली होती है। अतः धर्म को वीतराग की आज्ञा से अलग नहीं किया जा सकता है।

वीतराग पुरुष ने धर्म के दो प्रकार बताए हैं–श्रुतधर्म और चारित्र धर्म। वीतराग पुरुष द्वारा प्ररूपित उपदेश श्रुतधर्म है और उन उपदेशों के अनुरूप आचरण करना, उन पर चलना चारित्र धर्म है। श्रुत ज्ञान का माध्यम है तो चारित्र आचरण का। बिना ज्ञान के उस ओर गति नहीं हो सकती है। अतः आचरण से पूर्व ज्ञान का होना भी आवश्यक है। जैसे आलोक के अभाव में पथिक पथ से भटक जाता है या उस ओर गति ही नहीं कर पाता है वैसे ही ज्ञान के बिना तदनुरूप आचरण करना भी संभव नहीं है। अतः श्रुत धर्म आलोक है और चारित्र धर्म आचरण है, क्रिया है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक है। इन दोनों का अपना विशेष महत्त्व है। सामान्यतया यदि जीवन में हमें किसी विषय के बारे में जानकारी होतो है कि अमुक विषय, वस्तु या पदार्थ क्या है, इसका स्वभाव क्या है, इसका उपयोग क्या है, इसकी विधि क्या है, इसके लाभ क्या हैं अथवा अमुक विषय, वस्तु या पदार्थ ग्राह्य है अथवा त्याज्य है तब ही उसे उपयोग में लेने या छोड़ने की बात होती है। अर्थात् ज्ञान के आधार पर उचित–अनुचित का बोध होता है और तभी उचित का ग्रहण और अनुचित त्याग किया जाता है वरन् तो अज्ञानता में दोनों में भेद कर पाना असंभव है। अत स्पष्ट है कि सम्यक् आचरण के लिए सम्यक् ज्ञान ज्ञान का होना आवश्यक है। कहा भी गया कि ज्ञान का सार आचार है। साधना के क्षेत्र में यही बात लागू होती है कि वीतराग पुरुष के उपदेशों के अनुरूप आचरण करने से साधक साधना के उच्च सोपानों को छू लेता है, वह कर्म बंधनों, कषायों, क्लेशों आदि से मुक्त हो जाता है। अहिंसा, संयम और तप ही उत्कृष्ट धर्म है। अतः ऐसे विषयों का अनुचिंतन करना तत्पश्चात् उन विषयों पर चलना, आचरण करना ही आज्ञा विचय धर्मध्यान का पर्याय है।

2. **अपाय विचय**–अपाय विचय का अर्थ है दोषों पर विचार करना। अतः इस ध्यान के अंतर्गत अपनी अज्ञानता पर, उस अज्ञानता से होने वाले असम्यक् व्यवहार पर, उससे उत्पन्न हुए दुःख, पीड़ा, कष्ट, क्लेश, लाचारी आदि पर विचार करना ताकि दुःख मुक्ति हो सके, अपाय विचय ध्यान का ही परिचायक है। यह सत्य है कि जीवन में सुख–दुःख दोनों का आवागमन चलता रहता है। सुख के प्रति हमारा राग होता है तो दुःख के प्रति द्वेष। कुछ दुःख स्वयं के द्वारा उत्पन्न हुए हैं तो कुछ दूसरों के निमित्त से। ऐसी स्थिति में यदि सम्यक् ज्ञान हो तो विपरीत परिस्थितियों में भी अविचलित रहा जा सकता है अथवा कम विचलित हुआ जा सकता है। कहने का तात्पर्य है कि यदि व्यक्ति भीतर से सुदृढ़ होता है तो बाह्य परिस्थितियों से भी कम प्रभावित रहता है या समभाव में रहता है। यह तभी संभव है जब उचित और अनुचित में भेद करने की दृष्टि हो। ऐसा होने पर ही उचित का वरण और अनुचित का त्याग किया जा सकता है।

सामान्य जीवन में भी सुख एवं सफलता पाने के लिए या सफल प्रबंधन के लिए अपनी शक्तियों, क्षमताओं पर जितना ध्यान दिया जाना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है अपनी कमजोरियों पर भी या अन्य कुप्रभावित करने वाले तत्त्वों पर भी ध्यान देना। अर्थात् सकारात्मक पक्ष के साथ–साथ नकारात्मक पक्ष पर भी ध्यान देना अति आवश्यक है वरन् पूर्णतया सफलता को प्राप्त कर पाना संभव नहीं है। अतः आवश्यक है कि नकारात्मक पक्ष को स्वीकार कर उन्हें दूर करने का प्रयास करना जिससे सुख एवं सफलता को प्राप्त किया जा सके। साधना के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। साधना का मार्ग अक्लेश का मार्ग है, सुख का मार्ग है, शांति का मार्ग है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आनंद का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए भी आवश्यक है कि वह भव बंधन, भव भ्रमण, उनसे होने वाले दुःखों, कष्टों, तापों, क्लेशों पर विचार करे, चिंतन–मंथन करे, उनके उपायों को खोजे तभी दुःख से मुक्त हुआ जा सकता है। जब वह अपने सामने बड़ा लक्ष्य रखेगा तभी वह स्वयं को भी उस मार्ग के लिए तैयार कर सकेगा। तब वह अपनी शक्तियों का उपयोग करेगा और कुप्रभावित करने वाले तत्त्वों को दम करने का प्रयास भी करेगा। अतः जब तक हम समस्याओं से स्वयं को मुक्त नहीं करना चाहेंगे तब तक समस्याएं यथावत रहेंगी और ये भी हो सकता है कि वे बढ़ेंगी ही, घटेंगी नहीं। जैसे ही समस्याओं को दूर करने का प्रयास होगा वैसे ही समाधान भी स्वतः मिलते जाएंगे। अतः आवश्यक है कि दुःख मुक्ति के लिए और सुख प्राप्ति के संदर्भ में भली प्रकार चिंतन–मंथन कर उस मार्ग की ओर प्रस्थान करना। अपाय विचय ध्यान इसमें सहयोगी बनता है।

3. **विपाक विचय ध्यान**–विपाक का अर्थ है संचित कर्मों का उदय में आना, संचित कर्मों का फल प्रापत होना। संचित कर्मों के परिणामों पर विचार करना ही विपाक विचय ध्यान है। अर्थात् कर्म फलों से प्राप्त होने वाले दुःखद परिणामों पर विचार करना ताकि ऐसे कर्मों से बचा जा सके, विपाक विचय ध्यान का परिचायक है। ऐसा होने पर उन कर्मों पर रोक लग सकेगी जो वास्तव में क्लेश का कारण बनते हैं। जैसा कि अग्नि का परिणाम जलना है, विष का परिणाम मरना है, असत्कर्मों का परिणाम पाप है और सत्कर्मों का परिणाम पुण्य है। विचारशील या बुद्धिमान पुरुष इन परिणामों पर चिंतन–मंथन कर असद् परिणामों से बचता है और सद् परिणामों को चुनता है या उस मार्ग पर चलता है। इसी प्रकार कर्म का सिद्धात जो बहुत ही गूढ़ पहलू है, बहुत बड़ा रहस्य है इसके परिणामों पर विचार कर सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होना एक साधक के लिए आवश्यक शर्त है। ऐसा होने पर ही कर्म बंधनों को तोड़ा जा सकता है और दुःखों से मुक्त हुआ जा सकता है।

   यह अटूट सत्य है कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही परिणाम भी होता है। आम बोने से आम ही मिलेगा और बबूल बोने पर बबूल ही मिलेगा। मधु का स्वभाव मधुर है तो कटु का स्वभाव कटु ही है। मधु तो मधु ही है और नीम भी नीम ही है। दोनों का स्वभाव भिन्न–भिन्न है। किसी विशेष परिस्थिति में औषधीय उपचार हेतु या खाद्य पदार्थ को सुस्वादु बनाने हेतु यदि नीम की कटुता को कम करना हो तो मधु की सहायता से उसे कम किया जा सकता है। मधु की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, नीम की कटुता उतनी ही कम होती जाएगी। इसी प्रकार संचित कर्मों के विपाक को भी कम किया जा सकता है, उन्हें पतला किया जा सकता है, हलका किया जा सकता है, उन्हें अशक्त किया जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि साधना जितनी गहरी होगी, कर्म बंधन उतने ही क्षीण होते जाएंगे और उनका फल भी उतना दुःखद नहीं होगा जितना कि पूर्व में संभावना थी। कहने का तात्पर्य है कि राग–द्वेषादि युक्त कर्मों में लिप्त होने से अनेक समस्यांए उत्पन्न होती हैं, उन्हीं से व्यक्ति आकुल–व्याकुल रहता है, दुःखी रहता है, संतप्त रहता है, और भव परिभ्रमण करता रहता है। इसके विपरीत जब वह इन दुःख के परिणामों पर विचार करता है और राग–द्वेषादि युक्त कर्मों से दूर रहने का प्रयास करता है, तप और संयम का आचरण करता है, मन की मलिनताओं को कम करता है, स्वयं को परिष्कृत करता है तो धीरे–धीरे शोधन होता जाता है और बंधन भी क्षीण होते जाते हैं। इससे दो तरह के परिणाम प्राप्त होते हैं। एक ओर संचित कर्म अशक्त बनते हैं तो दूसरी ओर कर्म बंधनों से भी बचा जा सकता है। अतः सधना का पथ भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को परिष्कृत करता है।

   विपाक विचय ध्यान धर्म का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है। इसके द्वारा कर्मों के परिणामों पर विचार कर पुनः वैसे कर्मों से बचने का प्रयास करना जो दुःखद परिणाम वाले हैं, वास्तव में कर्म क्षय का महत्त्वपूर्ण साधन है। जब तक कर्मों की श्रृखला टूटती नहीं है तब तक परिणाम भी भोगने ही पड़ते हैं। यदि विपाक विचय ध्यान को महत्त्व दिया जाए, इसे आचरण में उतारा जाए तो कर्म बंधन संबंधी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. **संस्थान विचय ध्यान**–आदि अंत रहित लोक की आकृति पर विचार करना संस्थान विचय ध्यान है। जब लोक संस्थान पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से विचार किया जाता है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह लोक जीव और अजीव से भरा हुआ है। एक ओर जीव अंनंत काल से अपने–अपने कर्मों के अनुसार फलों को भोग रहे हैं। रोग, शोक, ताप, भय, क्लेश आदि से दुःखी जीव क्षणिक सुख का तो आनंद ले सकता है पर स्थाई सुख का नहीं। दूसरी ओर अजीव पदार्थ समय के साथ–साथ परविर्तित होते रहते हैं, सड़ते हैं, गलते हैं, स्वरूप में परिवर्तन होता है। अंततः परिणाम दुःखद ही होता है। अतः लोक की ऐसी व्यवस्था, ऐसी अवस्था, ऐसा स्वरूप या ऐसा स्वभाव देखकर ध्याता के मन में क्षणभंगुरता का बोध होता है साथ ही यथार्थ सत्य का बोध भी होता है। तब वह लोकातीत, अनंत अखंड, अक्षय, अलौकिक और आनंद के लोक को प्राप्त करने हेतु चिंतन करता है। इस चिंतन में वह परम आनंद की उपलब्धि करता है।

   कहने का तात्पर्य है कि लोक संस्थान पर विचार करने से ही लोक के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। लौकिक वस्तुओं या पदार्थों के वास्तविक स्वभाव का बोध होता है। साधक को जब मरणशील, गलनशील, सड़नशील, विनाशी वस्तुओं, पदार्थों का ज्ञान होता है साथ ही आसक्ति होने पर इनसे वियोग होने का दुःख भी वह समझने लगता है तो क्षणिक सुख नहीं वरन् स्थाई सुख के प्रति चिंतन करने लगता है या उसके प्रति आकर्षित होने लगता है जो उसे अतीव आनंद की प्राप्ति करा सके। तभी लोकसंस्थान विचय ध्यान का प्रारंभ होता है। लौकिक वस्तुओं या पदार्थों से संबंध विच्छेद होने से साधक आत्मा के अलौकिक सच्चिनानंद धर्म की प्राप्ति करता है और अपने स्वरूप को ऊंचा कर लेता है।

धर्म ध्यान के लक्षण

आगम में धर्म ध्यान के निम्न लक्षण बताए गए हैं–

5. **आज्ञा रुचि**–वीतराग द्वारा बताया मार्ग आज्ञा है। अतः आज्ञा में रुचि होना आज्ञा रुचि है। अतः आज्ञा में रुचि लेना, उसमें रस लेना, उसमें विचार करना, चिंतन करना, उसमें रमण करना आज्ञा रुचि का ही द्योतक है। सामान्यतया सभी की रुचि भिन्न–भिन्न होती है। किसी की रुचि लौकिक पदार्थों में होती है किसी की अलौकिक पदार्थों में। यह रुचि भी कम अधिक हो सकती है। जिसकी जितनी आस्था होगी, जिसका जितना रस होगा, रुचि भी उतनी होगी। साधना के क्षेत्र में वीतराग पुरुष की आज्ञा में रुचि होने पर ही उस मार्ग का वरण किया जा सकता है अन्यथा नहीं। जिस मार्ग में रुचि ही नहीं होगी, चरण आगे नहीं बढ़ेंगे। अतः साधना का मार्ग वास्तविक सत्य के प्रति रुचि का ही मार्ग है तभी इस क्षेत्र में सफलता पाई जा सकती है।
6. **निसर्ग रुचि**–निसर्ग का अर्थ है निर्दोष अवस्था। अतः सहज भाव से निर्दोष अवस्था या ऐसे स्वभाव को प्राप्त कर लेना निसर्ग रुचि है। यह तभी संभव होता है जब ज्ञानावरणीय और दर्शन मोह का क्षयोपशम होता है अर्थात् अज्ञान और मिथ्यादृष्टि जब हटती है तो स्वभाव स्वतः ही दोष रहित हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि अज्ञान ज्ञान को आवरित कर देता है मिथ्यात्व देखने के नजरिये को बदल देता है। इन दोनों के रहते सही और गलत में भेद कर पाना आसान नहीं हो पाता है। जब ये दोनों हट जाते हैं तो साधक अपने मूल स्वभाव में आ जाता है।
7. **सूत्र रुचि**–तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान का संक्षेपीकरण सूत्र कहलाता है। सूत्रों के पठन–पाठन में रुचि का होना ही सूत्र रुचि है। सूत्र रुचि उसी को होती है जिसे लोक के प्रति विरक्ति और मुक्ति के प्रति अनुरक्ति हो जाती है। कहने का तात्पर्य है कि मुक्ति संबंधी सूत्रों को पढ़ने या पढ़ाने में उसी के रुचि हो सकती है जो उस मार्ग का अनुगामी हो।
8. **उपदेश रुचि**–जिससे सही दिशा का दर्शन हो, उसे उपदेश कहा जाता है। अतः जिस ज्ञान से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति की ओर बढ़ने की प्ररेणा मिले, वह उपदेश रुचि है। उपदेश भी दो प्रकार का बताया है स्वानुभव से और परानुभव व ज्ञान के श्रवण से। स्वानुभव के अंतर्गत अच्छे या बुरे दोनों अनुभवों से सीख या प्रेरणा मिलती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परानुभव में दूसरों के अनुभव या दूसरों के ज्ञान के श्रवण। उदाहरण के लिए एक तो बच्चा अपने अनुभव से सीखता कि अग्नि से ताप मिलती है, कांटे से चुभन मिलती है और दूसरी ओर अध्यापक के द्वारा ये ज्ञान उसे दिया जाता है। इसी तरह साधना के मार्ग में भी स्वानुभव या गुरु अथवा वीतरागी के उपदेशों में रुचि होने से मुक्ति के मार्ग की ओर प्रस्थान होता है।

धर्मध्यान के आलंबन

साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए किसी न किसी आलंबन की आवश्यकता होती है तभी सरलतापूर्वक उस मार्ग मके आगे बढ़ा जा सकता है। आगम में चार अलंबनों का वर्णन है–

1. **वांचना**–सद्ग्रंथ का वाचन करना वांचना कहलाता है। अतः ऐसे ग्रंथों का वाचन जो बंधन के नहीं वरन् मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करें, ऐसे ग्रंथों का पठन–पाठन वांचन के अंतर्गत ही आता है। इससे धार्मिक भावों का विकास होता है, आस्था बढ़ती है, उसमें रुचि होती है।
2. **प्रतिपृच्छा**–पृच्छा का अर्थ है पूछना। वांचना के बाद जो विषय स्पष्ट न हुआ या और अधिक ज्ञान की अभिरुचि हो तो गुरु से या अधिकारी व्यक्ति से पूछकर समस्या को समाहित किया जाता है। अतः धर्मध्यान के क्षेत्र में इस आलंबन का भी विशेष महत्त्व है।
3. **परिवर्तना**–ज्ञान को बार–बार दुहराना परिवर्तना है। कई बार ऐसा भी होता है कि विषय या ज्ञान विस्मृत हो जाता है। वह ज्ञान बना रहे, ज्ञान का मर्ग का अवरुद्ध न हो, वह स्थाई बना रहे, इसलिए परिवर्तना का महत्त्व है।
4. **अनुप्रेक्षा**–मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषय को अनुप्रेक्षा कहा जाता है। जब मन किसी विषय के प्रति मूर्च्छित हो जाता है, उसका यथार्थ बोध नहीं हो पाता है तो वह सम्यक् व्यवहार भी नहीं कर पाता है। अतः ऐसे विषय की मूर्च्छा तोड़ना, उसे वास्तवकि सत्य का ज्ञान कराना अनुप्रेक्षा का कार्य है। साधना के क्षेत्र में अनुप्रेक्षा साधक को विषय की मूर्च्छा के प्रति, उसके परिणामों के प्रति जागरूक करती है। इससे साधक का चित्त सत्य को स्वीकारने लगता है और असत्य का त्याग करने लगता है। अतः धर्म ध्यान के अंतर्गत अनुप्रेक्षा का आलंबन भी बहुत बड़ा आलंबन है। अनुप्रेक्षा के अंतर्गत एकत्व अनुप्रेक्षा, अनित्य अनुप्रेक्षा, अशरण भावना, संसार भावना को निरूपित किया गया है।

5.3.4. शुक्लध्यान

शुक्ल का अर्थ है शुद्ध, श्वेत, विकार रहित, पवित्र आदि। अतः जो ध्यान सर्व कषायों से मुक्त कराता है और शुद्ध स्वरूप में प्रस्थापित करता है वह शुक्ल ध्यान है। इसे सर्वोत्कृष्ट ध्यान कहा गया है। इस ध्यान में साधक अथवा योगी साधना के उच्च शिखर को स्पर्श कर लेता है। आंतरिक पवित्रता के कारण लेश्या भी उसी के अनुरूप हो जाती है। शुक्ल लेश्या परम शुद्धि की लेश्या है। अतः शुक्लध्यान में लेश्या का स्वरूप भी वही हो जाता है।

शुक्लध्यान के प्रकार

शुक्लध्यान के निम्न प्रकार बताए गए हैं–

1. **पृथक्त्व वितर्क सविचार**–पृथक् का अर्थ है भिन्न, अलग आदि। चेतन तत्त्व अथवा आत्मा को सबसे अलग मानना, उसके अस्तित्व को सबसे पृथक् मानना, उस पर चिंतन करना अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय की भिन्नता का बोध करना पृथक्त्व वितर्क सविचार है। इसमें पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का चिंतन किया जाता है। अज्ञानतावश व्यक्ति पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता है। हमारा स्वरूप जड़ और चेतन का संयुक्त रूप है पर अज्ञानतावश जड़ को ही चेतन समझ लेना बंधन का मूल कारण है। जब साधक साधना के द्वारा यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है तो वह जड़ और चेतन की भिन्नता का बोध कर लेता है जिसे भेदविज्ञान भी कहा जाता है। इस ध्यान के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अंतर्गत साधक सभी पदार्थों से स्वयं को, अपनी आत्मा को सबसे पृथक् मानता है। यह यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। जैसे सभी स्थूल पदार्थ शरीर आदि फिर सूक्ष्म पदार्थ या तत्त्व मन, बुद्धि, कर्म अंततः सूक्ष्मतम स्तर आत्मा आदि। अंततः आत्मा का स्वरूप ही बचता है जो सबसे पृथक् है। ऐसा होने पर ही शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है।

2. **एकत्व वितर्क अविचार**–एक ही प्रकार की साधना में निमग्न रहना, लीन रहना एकत्व वितर्क अविचार है। अर्थात् एक ही आलंबन पर टिके रहना, उसी पर चित्त की स्थिरता बनाए रखना एकत्व वितर्क अविचार है। चूंकि यह चिंतनरहित ध्यान है। अतः निर्विकल्प अवस्था में शरीर और आत्मा से असंग हो जाने पर चिन्मयता अर्थात् आनंद क अनुभव होता है। सामान्यतया व्यक्ति वास्तविक सत्य को नहीं जान पाता है। सांसारिक पदार्थों में वह सुख खोजता है, उन्हीं में निमग्न रहता है। साथ ही अज्ञानतावश अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पाता है। इससे जीवनभर वह सुख की तलाश में रहता ही है पर पूर्णततया सुख मिले ही और वह सुखी और प्रसन्न भी रहे ही, यह कहा नहीं जा सकता है। ध्यान की उच्च अवस्थाओं में पहुंचकर जब उसे सत्य का ज्ञान होता है तो विवेकपूवर्क अज्ञान रूपी दोष का त्याग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

शुलध्यान के लक्षण

शुक्ल ध्यान के निम्न लक्षण निर्दिष्ट किए गए हैं–

1. **अव्यथा**–अव्यथा का अर्थ है व्यथा रहित होना, दुःख रहित होना। अतः शुक्ल ध्यान की यह विशेषता है कि वह दुःख रहित हो जाता है। दुःख का मूल कारण अज्ञानता है। अज्ञानतावश व्यक्ति जब पदार्थ से तादाम्य रखता है, उनमें वास्तविक सत्य को खोजता है जो क्षणिक सुख की प्राप्ति करा सकता है स्थाई सुख की नहीं। पदार्थ के साथ तादाम्य रखने, उसके साथ ममत्व का भाव रखने से, राग का भाव से आसक्ति का भाव भी बढ़ता जाता है। फिर उनसे वियोग होना अच्छा नहीं लगता है। इसी प्रकार शरीर में ममत्वभाव रखने या उसी को अपना वास्तविक स्वरूप मानने से एक ओर चेतन तत्त्व की अवहेलना तो होती है साथ ही शरीर में कष्ट होने पर उस कष्ट से भी तादाम्य हो जाता है या उस कष्ट से मन खिन्न रहता है, दुःखी रहता है। ध्यान के दौरान चित्त की मिलनता हटने से, अज्ञानता का आवरण क्षीण होने से पदार्थ की भिन्नता, शरीर की भिन्नता, उनसे होने वाले सुख–दुःख की भिन्नता और आत्मा से उनकी भिन्नता अथवा उनकी पृथकता का बोध हो जाने पर व्यथा नहीं रह जाती है। तब यह ज्ञात हो जाता है कि पदार्थ का स्वभाव क्षणिक है और आत्मा का स्थाई। पदार्थ के साथ तादाम्य से सुख दुःख दोनों ही अनुभूति हो सकती है पर आत्मा के साथ तादाम्य से ही वास्तविक सुख की अनुभूति होती है। अतः आत्मा के साथ जुड़ना, उसके स्वरूप को जानना, उसमें रमण करना अव्यथा है।

2. **असम्मोह**–सम्मोह का न होना, मोहित न होना असम्मोह है। शुक्लध्यानी किसी पदार्थ से, किसी वस्तु या विषय भोग से या इंद्रिय सुखों से मोहित नहीं होता है। उसके लिए पदार्थ पदार्थ है। जब पदार्थ से साथ मोह होता है तो उसे प्राप्त करने की लालसा, उसके प्रति मूर्च्छा भाव, उसके प्रति आसक्ति का भाव बना रहता है। चित्त उस विषय के प्रति या उसे पाने के लिए लालायित रहता है या प्रयास करता है। उसे प्राप्त होने पर सुख की अनुभूति और न होने दुःख की अनुभूति होना स्वाभाविक बात है। इसके विपरीत शुक्लध्यानी के लिए पदार्थ या वस्तु आदि के प्रति मोह छूट जाता है। तब वह उसके लिए मात्र उपयोग की वस्तु हो सकती है उपभोग की नहीं। साथ ही वह साधना से प्राप्त रिद्धियों–सिद्धियों को निस्सार समझने लगता है, उनको भी मूल्य नहीं देता है और आगे बढ़ता जाता है। कहने का तात्पर्य है कि आत्म तत्व के सुख के अतिरिक्त कोई भी उसे मोहित नहीं कर पाता है। यह अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है।

3. **विवेक**–मूढ़ता या जड़ता का अभाव या सजगता का होना ही विवेक है। सजगता के रहते ही सही और गलत में भेद किया जा सकता है। जड़ पदार्थों से ममत्व रखने से जड़ता ही आती है। अतः पदार्थ के साथ जितना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अधिक ममत्व होगा अविवेक उतना ही अधिक बढ़ेगा। पदार्थ और शरीर से स्वयं की भिन्नता का अनुभव करना ही विवेक है। कहा भी गया है कि शरीर और सर्व संयोगों को आत्मा से क्षीर–नीर भिन्न समझना ही विवेक है। शुक्लध्यान में यह विशेषता होती है कि इसमें साधक की विवेकशक्ति उसे वास्तविक सत्य का बोध करा के उसमें अवस्थित करने को प्ररित करती है। यह सत्य भी है कि बिना विवेक ज्ञान के सत्य और असत्य में भेद नहीं किया जा सकता है और न ही असत्य मार्ग का त्याग और न ही सत्य मार्ग का वरण किया जा सकता है। अतः शुक्लध्यानी विवेकज्ञान से संपन्न होता है।

4. **व्युत्सर्ग**–व्युत्सर्ग का अर्थ है छोड़ना, त्यागना, अलग करना। ध्यान के संदर्भ में शरीर और उपधियों के संग का निःसंकोच त्याग करना, उन्हें छोड़ना व्युत्सर्ग है। पदार्थों के साथ ममत्व का भाव होने पर ही उनका संग होता है अर्थात् वे अपने साथ रहते हैं, अपने पास में रहते हैं। यदि ममत्व छूट जाता है तब पदार्थ भी अपने से दूर हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य है कि संग बंधन का कारण है और निसंग मुक्ति का। ज्ञानी पुरुष बंधन की नहीं वरन् मुक्ति की कामना करता है। जैसे–जैसे वह इस मार्ग पर चलता है, पदार्थ निसंगता बढ़ती जाती है, पदार्थ से संबंध विच्छेद होता जाता है। ऐसा भी नहीं है कि पदार्थ से पूर्णतया संबंध विच्छेद हो ही जाता है। हां! इतना अवश्य होता है कि पदार्थ आवश्यकता हो सकती है आसक्ति नहीं। इसी प्रकार शरीर के बिना आत्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं है। अर्थात् आत्मा की अभिव्यक्ति भी शरीर के माध्यम से ही होती है। अतः शरीर का त्याग कर देने से आत्म कल्याण नहीं हो सकता है। आत्मा और शरीर दोनों का अपना महत्त्व है पर शरीर के प्रति नितांत आसक्ति का भाव रखने से आत्म कल्याण गौण हो जाएगा। इसलिए ज्ञानी पुरुष या शुक्लध्यानी शरीर को भी यथावत महत्त्व देते है और आत्म कल्याण तो सर्वोपरि है ही। कहने का तात्पर्य है पदार्थ या शरीर के साथ व्युत्सर्ग चेतना बनी रहे, अनासक्ति का भाव बना रहे, तभी वास्तविक व्युत्सर्ग चेतना है अन्यथा पदार्थ को दूर करने पर भी मन में उनके प्रति तृष्णा का भाव बना ही रहता है तो वह वास्तविक व्युत्सर्ग नहीं है। वास्तविक व्युत्सर्ग तो वही है जो तृष्णा रहित हो, आसक्ति रहित हो। शुक्लध्यानी इसका अधिकारी होता है।

शुक्लध्यान के आलंबन–शुक्लध्यान के निम्न आलंबन हैं–

1. **क्षमा**–क्षमा मैत्री का प्रयोग है। दूसरों द्वारा हुए अनचाहे व्यवहार के प्रति भी निसंगता का भाव रखना, स्वयं को अप्रभातिव रखना साथ ही दूसरों के प्रति मैत्री भाव रखना ही क्षमा है। क्षमा करना सरल कार्य नहीं है। यह मन की मलिनता को मिटाने वाला भाव है। जब मलिनता मिट जाती है, कलुषता मिट जाती है तो मैत्री ही शेष रहती है। यह मैत्री भाव ही सब प्राणियों के दुःखों, कष्टों, पीड़ाओं को अनुभव करने और उन्हें दूरने का गुण भी रखता है। अतः ऐसा साधक कषायों से मुक्त होता है विशेषकर क्रोध से। तभी तो वह क्षमाशील होता है। यह कषाय आत्मा का स्वभाव नहीं है वरन् आगंतुक है। निमित्त मिलने पर इसका भी अंत हो जाता है। अज्ञानतावश गलत व्यवहार करना मानव का स्वभाव है। इस व्यवहार को क्षमा करना, उन्हें सत् मार्ग पर ले जाने का दुरूह कार्य क्षमाशीलों के अधिकार क्षेत्र में होता है। अतः क्षमा का आलंबन लेकर ध्यानी कषायमुक्त होने से क्षमाशील होता है, दूसरों के दुःखों को दूर करता है, मैत्री भाव रखता है। आत्म कल्याण के साथ पर कल्याण भी करता है।
2. **मार्दव**–मार्दव का अर्थ है मृदुता। मान पर अर्थात् अहंकार पर विजय पाने से इस गुण का विकास होता है। मृदुता विनय भाव को बढ़ाती है। विनय ज्ञान के विकास में सहायक होता है। यह सत्य है कि अहंकार रहित अवस्था में वाणी भी मधुर होती है। वाणी की मधुरता ही संबंधों में मधुरता घोलती है। जहां अहंकार व्यक्ति के व्यक्तित्व को या उसके कद को छोटा कर देता है, वहीं मृदुता उसे ऊंचा करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। साधक मार्दव का सहारा लेकर आगे बढ़ता है तो वह अपने मार्ग में और अधिक सफल होता है। अतः अहंकार रूपी अस्त्र को भेदने में मृदुता का आलंबन आवश्यक है। शुक्लध्यान के लिए यह आलंबन उपयोगी बनता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. **आर्जव**–आर्जव का अर्थ है ऋजुता, सरलता। यह सरलता विचारों में, व्यवहार में होती है तो व्यक्ति कुटिलता या छद्म व्यवहार से बच जाता है। माया को जीतने पर भी सरलता आ सकती है। माया एक प्रकार का भ्रम है। हम भ्रम में ही जीते हैं। हम जैसा देखते हैं, जैसा सुनते हैं, जैसा अनुभव करते हैं, उसी को सत्य मान लेते हैं। वास्तविकता तो यह होती है कि सत्य कुछ अलग ही होता है जो भ्रम रहित अवस्था में अनुभव किया जा सकता है। जैसे रस्सी को सांप समझ लेना। जब वास्तविक सत्य का बोध होता है तो रस्सी और सांप दोनों एक नहीं वरन् भिन्न हैं। आर्जव या सरलता का गुण भ्रम रहित अवस्था है जो शुक्लध्यान का आलंबन बनता है।
4. **मुक्ति**–मुक्ति का अर्थ है मुक्त होना। मुक्त लोभ के जीतने पर हो सकता है। लोभ व्यक्ति को पदार्थों से बांधता है और निर्लोभता पदार्थों से मुक्त रखने में सहायक है। अतः लोभ पर विजय पाने पर ही मुक्ति का भाव उत्पन्न होता है। साधना के क्षेत्र में इन पदार्थों के प्रति लोभ का होना उचित नहीं है। लोभ के रहते व्यक्ति पदार्थों को एकत्र करने, उनके संचय करने, उन्हें बचाने आदि के प्रति जागरूक रहता है। सारी शक्ति, सारी ऊर्जा पदार्थ केन्द्रित हो जाती है। ऐसे में साधना का बाधित होना कोई बड़ी बात नहीं है। अतः साधक के लिए आवश्यक है कि लोभ का संभरण करे, निर्लोभता की ओर बढ़े। शुक्लध्यान के लिए मुक्ति अर्थात् पदार्थ मुक्तता, अनासक्ति, बंधनमुक्त होना आवश्यक है। ध्यानी इसका आलंबन लेकर आगे बढ़ सकता है।

1. अतः क्रोध, मान माया और लोभ इन चार कषाय से मुक्त होना ही वीतराग होना है। ध्यान के इन चारों प्रकारों के अतिरिक्त बारह भावनाओं का भी वर्णन है जिनसे साधक स्वयं को सद्भावनओं से भावित कर साधना के उच्च सोपानों को स्पर्श कर सकता है, वीतराग बन सकता है।

5.4 जैनयोग में भावनाएं

चित्त में बार–बार एक ही ध्येय का बना रहना भावना है। भावना एक प्रयोग है आत्म सुझाव का, परिवर्तन का, उपचार का। इससे भीतर जमे हुए मैल को, मलिनता को, अज्ञानता को, कषायों को धोया जा सकता है। जब भीतर से सफाई हो जाती है तो उसका प्रवाह भी स्वच्छ ही रहता है। कहने का तात्पर्य है कि मूल ही स्वच्छ है तो उसका विस्तार भी स्वच्छ ही रहेगा। यदि आंतरिक शुद्धि हो जाती है तो फिर आचार–व्यवहार भी स्वतः शुद्ध हो जाते हैं। अतः भावना के द्वारा भावना को बदला जा सकता है, भावना के भावना को शुद्ध किया जा सकता है और भावना के द्वारा सत्य के निकट पहुंचा जा सकता है। सामान्य जीवन में इसका अपना महत्त्व तो है ही, साधना के क्षेत्र में तो यह और भी अधिक आवश्यक है। सत्य को जाने, समझे बिना, उसे स्वीकार किए बिना न सुधार हो सकता है और न ही आगे बढ़ा जा सकता है। अतः भावना का प्रयोग सत्य को प्राप्त करने का प्रयोग है।

भावना के प्रकार– भावनाओं निम्न प्रकार बताए हैं–

1. **अनित्य भावना**–अनित्य का अर्थ है जो नित्य नहीं है, सदैव नही है, स्थाई नहीं है। यह सत्य भी है कि संसार की प्रत्येक वस्तु, पदार्थ अनित्य है। अज्ञानतावश इन्हें नित्य मानना, इनसे आसक्ति रखना, मोह रखना, इन्हें अपना मानना दुःख का कारण है, बंधन का कारण है। सामान्य जीवन में पदार्थ प्रतिबद्धता के कारण ही अनेक संघर्ष होते हैं, अनेक विवाद होते हैं, संबंधों में कटुता आ जाती है। यदि पदार्थ की क्षणभंगुरता को समझ लिया जाए, उसकी अनित्यता को ज्ञात किया जाए, उसे समझा जाए तो आपसी संबंधों में भी मधुरता आ जाती है। जीवन सुख–चैन पूर्ण बन जाता है। तब पदार्थ मात्र पदार्थ ही रह जाता है।

   साधना के क्षेत्र में अनित्य की भावना और भी अधिक महत्त्व रखती है। जब इस सच्चाई का आभास हो जाता है कि संसार की कोई वस्तु या पदार्थ शाश्वत नहीं है, कोई संबंध शाश्वत नहीं है तो यह धारणा या विश्वास खंडित हो जाता है कि अशाश्वत शाश्वत नहीं है। दोनों भिन्न हैं। तब न तो वह पदार्थ के संयोग से अत्यधिक प्रसन्न होता है और न वियोग से अत्यधिक दुःखी। अर्थात् वह समभाव में रहता है। इसी अनित्य भावना के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रयोग से साधक सत्य के निकट पहुंता है और आगे बढ़ता जाता है। अतः अनित्य की भावना पदार्थ की यथार्थता को समझने में सहायक है। इतना ही नहीं, जीवन भी अनित्य है। राग–द्वेष रखने वाला प्राणी स्वयं अनित्य है। जब जीवन की अनित्यता का बोध वास्तव में हो जाता है तब विसंबंध की बात फलित होती है और तब ही शाश्वत आत्मा के दर्शन सुलभ होने लगते हैं। स्पष्ट है कि अनित्य भावना करते–करते साधक स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा कर शाश्वत सत्य तक पहुंचता है। शरीर, गलत संस्कार व आदतें आदि सब संयोग हैं। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग भी अवश्य होता है। ऐसी भावना करते–करते अंत में वास्तविक सत्य प्राप्त होता है जहां प्रकाश है, वास्तविक शांति और आनंद है। यही उसका वास्तविक स्वरूप भी है। अतः अनित्य भावना का प्रयोग चाहे सामान्य जीवन जीने वाला मानव प्राणी हो या साधक, दोनों के लिए अपना–अपना विशेष महत्त्व रखता है जिससे कषायमुक्त हुआ जा सकता है, वीतराग बना सकता है।

2. **अशरण भावना**–अशरण का अर्थ है शरण का न होना। शरण में व्यक्ति किसी दूसरे के आश्रय का सहारा लेता है, दूसरों से त्राण चाहता है। व्यावहारिक जीवन में कुछ सीमा तक तो यह संभव भी है पर अंतिम सच्चाई नहीं है। सामान्यतया मनुष्य पूर्ण नहीं अपितु अपूर्ण है। इसीलिए वह बाह्य वस्तुओं या पदार्थों से, दूसरे लोगों के सहयोग से पूर्ण बनने का प्रयास करता है। अर्थात् वह अपनी कमजोरियों को, अपनी दीन–हीनता को, अपनी लाचारी को, अपनी अक्षमता को, अपनी अयोग्यता आदि समस्याओं को दूर करना चाहता है जिसमें वह दूसरों के सहयोग की अपेक्षा रखता है। यह समाधान अंशतः या पूर्णतः मिल जाता है पर वास्तविकता यही है कि स्वयं के पुरुषार्थ के बिना, स्वयं की शरण में गए बिना, स्वयं का मूल्यांकन किए बिना या स्वयं पुरुषार्थ किए बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए स्वयं की शरण में आना ही होगा।

   व्यवहार और यथार्थता दोनों भिन्न हैं। अतः यह स्पष्ट करना होगा, इसे मानना होगा कि व्यवहार अंतिम सच्चाई नहीं है, यथार्थता ही अंतिम सच्चाई है। अशरण की भावना उन संस्कारों पर, उन विश्वासों पर, उन धारणाओं पर प्रहार करती है जो बाहर का सहारा ढूंढते हैं या उसकी अपेक्षा करते हैं। जब यह समझ में आ जाता है कि शरण कोई नहीं है तब बाह्य जगत से संबंधों की पकड़ ढीली हो जाती है। धन, दौलत, परिवार आदि कोई भी वास्तविक त्राण नहीं दे सकता है, कोई वास्तविक शरण नहीं दे सकता है। यह भ्रम टूट जाता है तो सामान्य व्यक्ति हो अथवा साधक, स्वयं को निहारता है, स्वयं को पहचानता है, स्वयं की शरण में जाता है। उस आत्मा की शरण में जाता है जो वास्तव में ज्ञान, दर्शन चारित्र संपन्न है। वही वास्तव में शरण है। अतः अशरण की भावना स्वयं को पहचानने का प्रयोग है, वास्तविक सत्य के निकट जाने का प्रयोग है।

3. **भव भावना**–भव का अर्थ है संसार चक्र। इस संसार में प्रत्येक प्राणी समान नहीं हैं। सब शरीर, मन, बुद्धि, वैभव क्षमता आदि से भिन्न–भिन्न हैं। सब अपने–अपने अनुसार कर्म करते हैं, उसका फल भोगते हैं और भव भ्रमण करते रहते हैं। सामान्य व्यक्ति अज्ञानतावश इसी संसार को ही, इसमें व्याप्त सभी पदार्थों, वस्तुओं को ही एक सत्य मानता है, उसमें रस लेता है, रमण करता है और उनसे बंधा रहता है। जिन पदार्थों से प्रियता है, उनका संयोग चाहता है और जिनसे अप्रियता है, उनसे वियोग चाहता है। जीवनभर यह प्रक्रिया चलती रहती है। राग–द्वेष से निमग्न मानव प्राणी असत्य में सत्य का बोध कर प्रसन्न होना चाहता है और अपने द्वारा अर्जित कर्मों का फल भोगता रहता है। इसके विपरीत साधना के क्षेत्र में यह उचित नहीं माना गया है। एक साधक का उद्देश्य होता है कि भव बंधनों को काटे, उन्हें तोड़े, मुक्ति को प्राप्त करे।

   भव भावना साधक को सत्य से परिचित कराती है। जब साधक यह जान लेता है कि यह संसार चक्र बंधन का कारण है, दुःख का कारण है, भव भ्रमण का हेतु है तो वह उस परम तत्त्व को पाने का प्रयास करता है जहां से मुक्ति संभव है। यह भावना तभी फलित हो सकती है जब मोह का जड़ से ही अंत हो जाए। अतः साधक भव भावना के द्वारा संसार के दुःख को समझकर सुख की खोज में प्रस्थान करता है। वह सुख उसे उस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आनंदमयी आत्मा के सानिध्य में जाकर मिल सकता है जो वास्तविक सत्य है। उसके निकट रहकर संसार की असारता तथा आत्मा की अजरता, अमरता का बोध किया जा सकता है।

4. **एकत्व भावना**–एकत्व का अर्थ है अकेला होना। यों तो प्राणी समाजिक है। वह अकेला नहीं रहता है। अकेले उसका अस्तित्व है भी नहीं। समाज में रहकर ही वह दूसरों का सहयोग लेता है और देता भी है। समाज में रहकर ही वह अपने अस्तित्व की सुरक्षा भी करता है। इसे नकारा नहीं जा सकता है। परिवार, समूह, समुदाय, समाज सब होते हुए भी अकेलेपन की भावना होना हो सकता है सत्य प्रतीत न हो पर सत्य है। इस संसार में जितने प्राणी हैं, सबका अपना भिन्न अस्तित्व है। सबकी अपनी–अपनी आत्मा है। प्राणी अकेला आता है और अकेला जाता है। जिस दिन इस सच्चाई का ज्ञान हो जाएगा, उस दिन सारा ममकार और अहंकार क्षीण हो जाएगा। ममत्व भाव और अहंकार के कारण ही हम सत्य को नहीं समझ पाते हैं। अपने अच्छे–बुरे कर्मों के लिए हम स्वयं जिम्मेदार होते हैं और उनका फल भी स्वयं भोगते हैं। अतः समूह में होते हुए भी हम अकेले हैं। यही वास्तकि सत्य है।

   एकत्व की भावना से व्यक्ति अपने आप को देखता है तो उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। एक आत्मा ही अपनी मित्र है सारे संबंध झूठे हैं। तब झूठे संबंधों में उसे रस नहीं आएगा, शाश्वत मित्र आत्मा में ही रस आएगा। तब न राग–द्वेष होगा, न गलत कर्म होंगे और न ही कर्म बंधन होगा। अतः साधक के लिए एकत्व की भावना उसे स्वयं को जानने में सहायक बनती है, उस परम मित्र आत्मा को ही परम मित्र मानने के लिए प्रेरित करती है।

5. **अन्यत्व भावना**–अन्यत्व का अर्थ है भिन्न मानना, अलग मानना। सम्यक् दर्शन के लिए आवश्यक है अन्यत्व की भावना। पदार्थ से, वस्तु से, शरीर से स्वयं को भिन्न मानना। जब पदार्थ या वस्तु से तादाम्य जुड़ जाता है तो उससे मोह होना भी स्वाभाविक ही है। ऐसे में पदार्थ या वस्तु भिन्न नहीं वरन् एक मान लिए जाते हैं। रोटी का अपना अस्तित्व है, उससे भूख मिटती है पर रोटी को ही अपने वास्तविक अस्तित्व के साथ जोड़ना अज्ञानता है। हर रागय गरितष्क गें रोटी का ख्याल रखना रागरया का कारण है। वरतु या पवार्थ हगारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, हमारे लिए उपयोगी हैं या हमारे अस्तित्व के लिए अपनी अहम् भूमिका अदा करते हैं। इतना होने पर भी वे हमसे भिन्न हैं, हमारी आत्मा से भिन्न हैं। इसी तरह शरीर और आत्मा दो भिन्न तत्व हैं। समस्या तब होती है जब शरीर को ही आत्मा मान लिया जाता है। तब शरीर से आसक्ति के कारण उसमें होने वाले रोगों, पीड़ाओं आदि के प्रति दुःखी होना, व्यथित होना, शोक–संताप करना हमारा स्वभाव बन जाता है। यह स्वभाव जैसे–जैसे पुष्ट होता जाता है, बंधन बंधता जाता है।

   अतः आवश्यकता इस बात की है कि बंधन नहीं, मुक्ति का प्रयास किया जाए। अन्यत्व भावना का प्रयोग भी विसंबंध का ही प्रयोग है जो पदार्थ और आत्मा के भिन्न अस्तित्व को स्वीकार करता है और उस ओर प्रेरित करता है। यह भावना पुष्ट हो जाती है तो व्यक्ति अथवा साधक सत्य को प्राप्त करता है और तदनुरूप व्यवहार करने लगता है।

6. **अशौच भावना**–अशौच का अर्थ मलिनता, गंदगी, मैल आदि। आसक्ति का मूल शरीर ही है। शरीर के अस्तित्व को यदि समझा जाए तो ज्ञात होता है कि इस शरीर में एक ओर शुद्धता है, उतनी ही दूसरी ओर अशुद्धता भी है। इस शरीर में चैतन्य रूप आत्मा है तो इसी शरीर में मल, मूत्र, कफ आदि अशुद्धियां भी व्याप्त हैं। इस संदर्भ में शरीर अशुचि का, अशौच का भंडार है। तब इस शरीर से आसक्ति का मतलब नहीं रह जाता है लेकिन ऐसा होता नहीं है। सामान्यतया व्यक्ति इस सच्चाई को जानते हुए भी शरीर के मोह से विरत नहीं हो पाता है। साधना के लिए आवश्यक है कि शरीर में व्याप्त इस अशुद्धता को जानकर इस शरीर के प्रति नहीं वरन् चैतन्य रूप आत्मा से प्रेम करे, उसके निकट रहे। ऐसा होने पर शरीर मूर्छा का केन्द्र नहीं रह जाएगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह सत्य है कि साधना का माध्यम भी यही शरीर है। अतः इसका रख–रखाव करना, इसे सुरक्षित रखना, इसे स्वच्छ रखना हमारा दायित्व बन जाता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि इस यह शरीर अशुद्धि का भंडार है तो इससे अनावश्यक आसक्ति भी रखी जाए जिससे शरीर मुख्य और आत्मा गौण हो जाए।

अतः अशौच की भावना शरीर के प्रति आसक्ति को कम करने, उसके प्रति मूर्च्छा को कम करने या शरीर के वास्तविक धर्म को ज्ञात करने का सशक्त माध्यम है। इस भावना से साधक इसकी अशुद्धियों को देखकर, इससे अनासक्त होकर शुद्ध स्वरूप आत्मा के दर्शन कर सकेगा।

7. **आस्रव भावना**–आस्रव का अर्थ है छिद्र, आकर्षण, कर्म परमाणुओं को आकर्षित करने की क्रिया। व्यक्ति का पूरा जीवन राग और द्वेष पर चलता रहता है। इनकी जितनी मात्रा होती है, जितनी सघनता होती है उसी के अनुरूप कर्मों का आकर्षण होता रहता है। आस्रव के पांच प्रकार बताए हैं–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। **मिथ्यात्व** का अर्थ है विपरीत ज्ञान। सही को गलत मानना, गलत को सही मानना, दुःख को सुख मानना, सुख को दुःख मानना, पदार्थ को नित्य मानना, आत्मा को अनित्य मानना, रात को दिन मानना, दिन को रात मानना आदि। वास्तव में यह स्थिति साधक के लिए ही नहीं वरन् एक सामान्य व्यक्ति के लिए भी त्याज्य है। इस स्थिति में इंद्रियां भोग के प्रति तीव्र लालायित रहती हैं या उनमें रमण करती हैं। इसमें आत्म कल्याण नहीं वरन् आत्मा मलिन होती है। ऐसा होने पर कर्मों का आकर्षण होना ही है। **अविरति** का अर्थ है विरति का अभाव, वैराग्य का अभाव। जब तक पदार्थों से आसक्ति नहीं छूटती है तब तक उनसे प्रतिबद्धता बनी रहती है। पदार्थ प्रतिबद्धता शाश्वत सत्य से दूर कर देती है। अतः पदार्थ के प्रति आकर्षण उसे विकर्षण ही ओर, विराग की ओर नहीं जाने देता है जो बंधन का कारण बनता है। **प्रमाद** का अर्थ है विस्मृति, सत्कार्य के प्रति उत्साह न होना। प्रमत्त अवस्था में धर्म के प्रति, सत्कार्य के प्रति, शुद्ध चैतन्य के प्रति आकर्षण नहीं रहता है जो आस्रव का कारण बनता है। **कषाय** का अर्थ है... क्रोध, माना, माया और लोभ मुख्य कषायों में आते है। मुख्यतया इनके कारण ही कर्म बंध होता है। **योग** का अर्थ है प्रवृत्ति, चंचलता। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को भी योग कहा गया है। अतः इनकी प्रवृत्ति या चंचलता जितनी ही अधिक बढेगी, आस्रव भी उतना ही तीव्र होगा।

   आस्रव भावना के द्वारा आस्रवों के स्वरूप को जान्ना, उससे होने वाले दुष्परिणामों पर विचार करना ताकि उस ओर प्रवृत्ति न हो सके, इस ओर प्रयास किया जाता है। अतः आस्रव भावना भी कर्म बंधनों से बचाने का महत्वपूर्ण प्रयोग है।

8. **संवर भावना**–संवर का अर्थ है रोकना। कर्म संस्कारों का बंधन न हो, इसके लिए आवश्यक है उन्हें रोका जाए। इसके लिए भी आवश्यक है वर्तमान क्षण को जानना। जैसे–जैसे वर्तमान क्षण की प्रेक्षा होती जाएगी, न भूत की स्मृति रहेगी और न भविष्य की कल्पना ही रहेगी। संवेदना की भूमिका से उठकर ज्ञान के स्तर पर आने से इंद्रियों के संवेदन की कम होने लगते हैं। इंद्रियों के संवर से पहले मन का संवर भी आवश्यक है। अतः उसे वश में किया जाए। बुद्धि के स्तर को सही दिशा में लगाया जाए। इस तरह स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल दोनों की यात्रा बराबर चलती रहेगी तो संवर की साधना भी परिपक्व बनती जाएगी।

   अतः बिना राग–द्वेषात्मक दृष्टि से, तटस्थ भावना से प्रत्येक भाव के प्रति जागरूक रहकर, प्रत्येक व्यवहार के प्रति जगरूक रहकर, प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक रहकर बंधन से बचा जा सकता है साथ ही संवर भी होता जाएगा। नए कर्मों को आने से रोका जा सकता है। व्यवहार के मूल में ही विचार करने से, संयम करने से, जागरूक रहने से वर्तमान में रहने से संवर की साधना फलित हो सकती है। अतः संवर की भावना बार–बार करने से चित्त पटु बनता जाएगा, संस्कार पुष्ट होते जाएंगे और सकारात्मक परिवर्तन दृष्टिगत होंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9. **निर्जरा भावना**–निर्जरा का अर्थ है खाली करना। जमे हुए मैल को खाली करना निर्जरा का ही रूप है। अतः कर्म बंधनों से मुक्त होने के लिए आवश्यक है कि जमे हुए कर्मों को खाली किया जाए। जब तक भीतर में कर्मों का मैल रहेगा, कषाय रहेंगे तब तक बाहर से अच्छे संस्कार उसके साथ नहीं आ सकते हैं। जब शरीर में विजातीय तत्व एकत्र हो जाते हैं तो शरीर बीमार पड़ जाता है। स्वस्थ होने का एक ही उपाय है कि उन विजातीय तत्वों को बाहर किया जाए। अतः जब तक संचित पदार्थों को, संचित तत्त्वों को या संचित संस्कारों को बाहर नहीं निकाला जाएगा, उनका रेचन नहीं किया जाएगा, तब तक समस्या का समाधान नहीं होगा। अर्जन के साथ विसर्जन की बात जुड़ी हुई है। खाली अर्जन ही अर्जन समस्या पैदा करता है। जब उसके विसर्जन की बात होती है संतुलन स्थापित होने लगता है। श्वास के साथ प्रश्वास की बात जुड़ी है। तभी शरीर स्वस्थ रहता है। कर्म संस्कारों के लिए भी यही बात लागू होती है। जब तक कर्म संस्कार जमे हुए हैं तब तक न शरीर से स्वस्थ रहा जा सकता है और ही मन और न भावों से। कहने का तात्पर्य है कि कर्म हमारे आचार–व्यवहार को प्रभावित करते हैं। संचित कर्म जब उदय में आते हैं तो उनके फलों से बचा नहीं जा सकता है।

   अतः आवश्यकता इस बात की है कर्मों की निर्जरा होती रहे। इसके लिए कई साधन हो सकते हैं। तपस्या को निर्जरा का मूल हेतु माना गया है। तपस्या के द्वारा मन एवं अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण करना, उन्हें अपने वशवर्ती करना, उन्हें तपाना आदि सम्मिलित है। जब मन, इंद्रिय आदि पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है तो कर्म बंधनों से छुटकारा मिल जाता है। मन एवं इंद्रियों की चंचलता ही कर्म बंध में सहायक बनती है। जब इन पर नियंत्रण स्थापित कर लिया जाता है तो ये अपने विषय–भोगों से हटकर आत्म तत्त्व की ओर उन्मुख होने लगते हैं। तब जो वृत्ति होगी वह बांधने वाली नहीं अपितु मुक्त करने वाली होगी। कहने का तात्पर्य है कि वृत्तियों का बाहरी प्रवाह जहां बंधन का कारण है वहीं वृत्तियों का आंतरिक प्रवाह मुक्ति में सहायक है। एक में भटकाव है तो दूसरे में स्थिरता है, शांति है। यही मानव का वास्तविक स्वभाव है। स्पष्ट होता है कि निर्जरा की भावना ही तपस्या आदि साधना के लिए प्रेरित करती है। अतः निर्जरा की भावना कर्म बंधनों से मुक्ति दिलाने में अपनी अहम् भूमिका निभाती है। साधक इसका सहारा लेकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

10. **धर्म भावना**– धर्म का अर्थ है स्वभाव, स्वयं में प्रतिष्ठित कराने वाला साधन। धर्म को प्राण, प्रतिष्ठा और गति भी कहा गया है। अतः धर्म प्रकाश देने वाला, आलोक देने वाला साधन है। यह सत्य भी है कि सामान्यतया कोई भी जीवन में अंधकार नहीं चाहता है, कोई अज्ञानी रहना नहीं चाहता है और बलहीन या वीर्यहीन होना नहीं चाहता है या उसके स्वभाव में ऐसा नहीं है। इसके उपरांत भी ऐसी स्थिति देखने को मिलती है जब व्यक्ति अंधकार पूर्ण जीवन जीता है, अज्ञानता पूर्ण जीवन जीता है और बलहीन, शक्तिहीन या वीर्यहीन जीवन जीता है। इसका कारण है कि वह धर्म जीवन में प्रतिष्ठित नहीं है। जब धर्म जीवन में प्रतिष्ठित हो जाता है तब जीवन में उत्साह होता है। तब सत्कार्यों में रुचि और असत् कार्यों के प्रति उपेक्षा का भाव होता है। धर्म का मूल तत्त्व कषाय मुक्ति माना है। तब क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के प्रति राग भाव नहीं वरन् विराग भाव होता है। त्याग को धर्म की शक्ति माना गया है। कहने का तात्पर्य है कि त्याग के बिना धर्म संभव नहीं है। जब साधक अपने वास्तविक स्वभाव में प्रतिष्ठित होना चाहता है तब त्याग सर्वोपरि है। त्याग उन संस्कारों का, उन आदतों का, उन आचरणों का, उन व्यवहारों का, उन कषायों का जो उसे अपने आप से, अपने वास्तविक स्वरूप से दूर किए हैं, उसके प्रति अनभिज्ञ बनाए हुए हैं, चंचलता, विक्षिप्तता, भटकाव की स्थिति में पहुंचाए हुए हैं। कहने का तात्पर्य है कि त्याग के बिना धर्म संभव नहीं है धर्म के बिना त्याग भी संभव नहीं है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अतः धर्म की भावना का सहारा लेकर साधक अपने जीवन को त्यागमय बनाता है जो मुक्ति का साधन है।

11. **लोक संस्थान भावना**–लोक क बारे में चिंतन करना, उसकी वास्तविकता का अंकन करना, विविधता और विचित्रता का अवलोकन करना लोक भावना है। यह संपूर्ण लोक जो एक विशेष आकृति वाला है, जड़–चेतन का आवास स्थल है, इसमें अनेक विविधताएं हैं, अनेक विचित्रताएं हैं, अनेक रंग हैं, अनेक रूप हैं। इसमें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रतिक्षण परिर्तन हो रहे हैं। इसका साक्षी भाव से, तटस्थ भाव से अवलोकन करना, चिंतन करना, विचार करना लोक संस्थान भावना के अंतर्गत आता है। सामान्यतया इस लोक में आकर्षण के अनेक केन्द्र हैं, अनेक पदार्थ हैं, अनेक वस्तुएं है। जो व्यक्ति को आकर्षित करने में, उसे भटकाने में, चंचल बनाने में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं। कमजोर मानसिकता वाला इस चक्रव्यूह में फंस जाता है तब उसके लिए बाहर निकलना भी सरल कार्य नहीं होता है। जीवन भर वह भटकता रहता है जहां न वास्तविक सुख–शांति है और न ही मुक्ति। समाधान हेतु आवश्यक है कि वह लोक की वास्तकिता को समझे।

लोक संस्थान भावना के अंतर्गत साधक इस लोक की वास्तविक सच्चाई को जानने का प्रयास करता है। जो दिखता है वह वास्तविक सत्य नहीं बल्कि भ्रम है। यहां स्थाई नहीं अपितु सब अस्थाई है। राग–द्वेष के परिणाम से व्यवहार में भिन्नता है। अपने–अपने अर्जित कर्मों के कारण कोई सुखी है तो कोई दुःखी है। इस परिवर्तनशील लोक में कोई यदि अपरिवर्तनशील है, कोई यदि स्थाई है और कोई यदि वास्तविक सुख–शांति का केन्द्र है तो वह है चैतन्यमय आत्मा। वहां न विविधता है, न विचित्रतता है, न परिणमशीलता है, न दुःख है, न क्षोभ है। वहां तो मात्र प्रकाश है, ज्ञान है, आनंद है। अतः लोक संस्थान भावना के द्वारा साधक एकत्व होकर, समत्व होकर अपने स्वरूप के प्रति सजग होता है।

12. **बोधि दुर्लभ भावना**–बोधि दुर्लभ का अर्थ है स्वयं की बोधि या अपने अस्तित्व का ज्ञान दुर्लभ होना। यह सत्य है कि इस संसार में, पदार्थ जगत् में बहुत कुछ प्राप्य है। मानव प्राणी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति येनकेन प्रकारेण करता रहता है। अपने श्रम और सामर्थ्य के अनुरूप उसे प्राप्त भी करता है। प्राप्त नहीं करता है तो सिर्फ स्वयं के वास्तविक स्वरूप को। इतनी खोज करने वाला, इतना विकास करने वाला प्राणी स्वयं की खोज करने में चूक जाता है। इसीलिए कहा गया है कि सब कुछ सुलभ है पर बोधि दुर्लभ है। यह सत्य है कि स्वयं जानना इतना सरल कार्य नहीं है जितना कि पदार्थ जगत् में रमण करना। इसीलिए इस भावना की बात आती है ताकि इस दुर्लभ को सुलभ बना लिया ताकि वास्तविक सुख–शांति को प्राप्त किया जा सके।

बोधि के तीन प्रकार बताए हैं ज्ञान बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि। यदि ये तीनों बोधियां प्राप्त हो जाती हैं तो फिर पदार्थ में नहीं अपितु आत्मा में रमण होगा, क्षणिक सुख नहीं अपितु स्थाई सुख होगा। इन बोधियों की प्राप्ति के लिए बाधक तत्त्व हैं ज्ञानावरणीय, अंतराय और मोहनीय कर्म। ज्ञानावरणीय ज्ञान पर आवरण लगा देता है तो अंतराय यथार्थ के प्रति और मोहनीय कर्म उसे स्वीकार नहीं करता है। जब ये तीनों हटते हैं तो तीनों बोधियां सुलभ हो जाती है। अतः इस मार्ग में चलने वाला साधक यदि बोधि दुर्लभ भावना का अभ्यास करता रहे तो वह सत्य के निकट पहुंच सकता है। सुलभ वस्तु को पाना उतना कठिन नहीं है जितना कि दुर्लभ को पाना है लेकिन सुलभ वस्तु में वह रस नहीं है, वह सुख–शांति नहीं है, वह आनंद नहीं है जो दुर्लभ में है। जब उसका रस अनुभव में आ जाता है तब साधक अन्य रसों के प्रति विरक्त हो जाता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि साधक के लिए, आत्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिए बोधि दुर्लभ भावना भी सहायक है जिसके सहारे वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है।

उपरोक्त भावनाओं से स्पष्ट होता है कि साधना मार्ग में जाने के लिए एक नहीं अपितु अनेक साधन हैं। जिसे जो रुचिकर लगे, जिसे जो श्रेयस्कर लगे, जिसे जो सरल लगे, उसका प्रयोग साधक कर सकता है। यह भी सत्य है कि सभी की योग्यता, सभी के संस्कार समान नहीं होते हैं। अतः जिसे जो अधिक उपयोगी लगे, उसका अभ्यास किया जा सकता है। ये भावनाएं वास्तव में साधक ही नहीं अपितु सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी परिवर्तन लाने में सक्षम हैं। जो इनका जितना अधिक चिंतन करेगा, जितनी अधिक भावना करेगा वह उतना ही सत्य के निकट पहुंच सकेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ख) बौद्ध योग

5.5 उद्देश्य

इस पाठ के माध्यम से आप निम्न उद्देश्यों को प्राप्त कर पाएंगे–

1. बौद्ध योग के दार्शनिक आधार को समझ पाएंगे।
2. आर्य सत्यों एवं आष्टांगिक मार्ग का ज्ञान कर पाएंगे।
3. ध्यान के उद्देश्य, समाधि के स्वरूप आदि को समझ पाएंगे।
4. कर्मस्थानों को जान पाएंगे।
4. विपश्यना ध्यान को जान पाएंगे।

भगवान् बुद्ध का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है। इसमें प्रयुक्त समाधि एवं ध्यान शब्द योग को ही अभिव्यंजित करते हैं। इसमें साधक का लक्ष्य अर्हत् पद या बोधिसत्व की प्राप्ति है। यही निर्वाण में परिणत होती है। बौद्ध भिक्षुओं ने निर्वाण प्राप्ति के लिए दो साधनों का विशेष उल्लेख किया है। शील विशुद्धि (सत्कर्मों के अनुष्ठान से नैतिक शुद्धि) एवं चित्त विशुद्धि का। शील विशुद्धि का प्रतिपादन अनेक बौद्ध ग्रन्थों मे पाया जाता है परन्तु चित्त विशुद्धि का विवेचन बहुत ही कम ग्रन्थों में किया गया है। 'सुत्त–पिटक' के अनेक सूत्रों में बुद्ध ने समाधि की शिक्षा दी है। आचार्य बुद्धघोष का 'विशुद्धिमग्ग' चित्त विशुद्धि विषय का सबसे सुन्दर, प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रन्थ है। इसमें हीनयान की दृष्टि से ध्यान योग का विस्तृत तथा विशद विवेचन है। महायान में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके ग्रन्थों में विशेषतः असंग के 'महायान–सूत्रालंकार' तथा 'योगाचार भूमिशास्त्र' में विज्ञानवादी सम्मत ध्यान योग का वर्णन पाया जाता है।

5.6 बुद्ध का संक्षिप्त जीवन

गौतम बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु के लुंबिनी नामक उद्यान में 505 वि. पू. वैशाखी पूर्णिमा को हुआ। इनकी माताजी का नाम योगमाया और पिताजी का नाम शुद्धोधन तथा पत्नी यशोधरा थीं।। उस समय की शिक्षणीय समस्त विद्याओं में ये पारंगत थे। 29 वर्ष की अवस्था में इन्होंने गृहत्याग किया जिसे **महाभिनिष्क्रमण** के नाम से जाना जाता है। 471 वि पू. वैशाखी पूर्णिमा को इन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई और 426 वि. पू. वैशाखी पूर्णिमा को ही इन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। बुद्ध ने साधनाकाल में योग की शाखाओं तथा विभिन्न विचार धाराओं का अध्ययन एवं अभ्यास किया। उनका विश्वास था कि परिव्राजकों के तत्त्वज्ञान से आदमी–आदमी के झगड़ों को मिटाने का रास्ता अवश्य मिलेगा। आडार कलाम और उद्रक रामपुत्र–ये दो सुप्रसिद्ध योगाचार्य थे। उनमें से एक योग की सात श्रेणी का उपदेश देते थे एवं दूसरे आठ श्रेणी का। आडार कलाम का एक आश्रम कपिलवस्तु नगर के पास था। वहां जाकर गौतम योगाभ्यास करने लगे और उन्होंने योग की प्रथम श्रेणी का संपादन किया। बुद्ध को लगा कि आडार कलाम के ध्यान मार्ग से कलह मिटाने का प्रश्न हल नहीं हो सकता। इसलिए गौतम ने उसको छोड़कर उद्रक रामपुत्र का आश्रय लिया। योग की और एक श्रेणी प्राप्त करने से भी कुछ लाभ नहीं दिखा। इसलिए उद्रक रामपुत्र को छोड़कर गौतम राजगृह चले गये। गौतम ने सोचा कि तपश्चर्या के बिना आत्म–बोध नहीं होगा और कलह मिटाने का रास्ता नहीं मिलेगा। इसलिए राजगृह को छोड़कर वे उरुवेला की ओर गये और वहां तपश्चर्या की। अन्त में गौतम इस निश्चय पर आये कि श्रमण सम्प्रदायों में सबसे बड़ा खतरा आत्मवाद से है। इसलिए आत्मवाद के सम्पर्क के अलावा कोई रास्ता होना चाहिए। अन्त में बोध गया में एक पीपल के पेड़ के नीच बैठकर वैशाखी पूर्णिमा की रात में गौतम ने अपना नया पथ निश्चित किया। यह पथ दो अंतों से मुक्त है। उनमें से पहला अंत कामोपभोग की आसक्ति है। इस अंत में फंसकर दुनिया का बहुत बड़ा समुदाय आपस में लड़ता–कटता और दुःख पाता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है, इसलिए यह त्याज्य है। यह छोड़कर जो परिव्राजक होते है, वे तपश्चर्या में जागकर नाना प्रकार से देह–दण्डन करते हैं। इसलिए यह तपश्चर्या का अंत भी निरर्थक है। ये दो अंत छोड़कर बीच का रास्ता चार आर्य सत्यों का है। इसी का उन्होंने प्रतिपादन किया। इस मार्ग का सार यह है कि मनुष्य–मनुष्य के साथ काया, वाचा, मन से सम्यक् वर्ताव कर अपनी तृष्णा को क्षय करे। इसी मार्ग से आदमी–आदमी में, कुटुम्ब–कुटुम्ब में और देश–देश में जो झगड़े उठते हैं, वे मिट सकते हैं। उपनिषद् कालीन आत्मवाद में भारतीय बुद्धिवाद अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। वह आत्मा जो अहंकार, मनस और विज्ञान की समष्टि है, आत्मवाद का शुद्ध आत्मन् नहीं है। जिस आत्मा को बुद्ध अस्वीकृत करते हैं वह अहंकार मनस और विज्ञान की समष्टि है। इस प्रकार एक ही धरातल पर स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रश्न नहीं है। अनेक प्रश्नों के संबंध में व्यावहारिक धरातल पर बुद्ध मौन हैं और अनेक प्रश्नों के संबंध में बौद्धिक धरातल पर उपनिषदों के मनीषी ''नहीं जानते, नहीं जानते'' पुकार उठते हैं।

5.7 दार्शनिक आधार

कहा गया है कि जैसी दृष्टि होती है वैसी ही सृष्टि भी होती है।। जैसा दर्शन होता है वैसा ही प्रवचन भी होता है। भगवान बुद्ध ने जीवन को और विशेषतः सार्वजनिक जन–जीवन को एक विशेष दृष्टिकोण से देखा। जीवन को दुःखमय देखा। उसे एक व्याधि के रूप में देखा। बौद्ध परम्परा के अनुसार अकुशल चित्त के कारण ही साधक को संसार भ्रमण करना पड़ता है। बुद्ध ने अपना निर्वाण मार्ग आत्म–विज्ञान जीवन के ऊपर स्थित नहीं किया वरन् दुःख, अनित्यता और अनात्म के साक्षात्कार पर स्थिर किया। उनका कहना था कि आत्म विज्ञान से कोई लाभ नहीं। जब मनुष्य अपने स्वतंत्र अस्तित्व को ''मैं हूं''–ऐसा समझ लेता है तब इस ''मैं'' से ममत्व की सृष्टि होती है। वह समझ लेता है यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, यह मुझे अच्छा लगता है आदि। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को वह अपने ''अहं'' की दृष्टि से परीक्षा करता है और राग–द्वेष बढ़ाता है व बुरी तरह संसार चक्र में फंस जाता है। अतः इस चक्र से निकलने का उत्तम उपाय है कि इस ''मैं'' को, इस अहंकार को वैराग्य भावना के बल से हटाया जाए। ऐसा करके वह जब ''मैं'' से मुक्त हो जाता है तब वह कल्याण मित्र बनता है। न कोई उसका है और न वह किसी का। उसे तो घर छोड़ना ही उचित है और अपनी उसी प्रज्ञा के प्रकर्ष ध्यान द्वारा प्राप्त करके कृतकृत्य होना ही उसके लिए निर्वाण है। अतः स्पष्ट होता है कि बुद्ध ने आत्म–विज्ञान के संकोच से निर्वाण का मार्ग बताया।

5.8 आर्य सत्य

बौद्ध परंपरा में आर्य सत्यों का अपना विशेष स्थान है। आर्य का अर्थ है अर्हत्, ज्ञानी। अतः जो सत्य आर्यजनों को होता है, वह आर्य सत्य है। सामान्यजन अपनी दैनिक चर्या में लिप्त होते हैं, कर्मबंधनों से बंधे हुए होते हैं। इसलिए उन्हें यह सत्य प्राप्त नहीं हो सकता है। मात्र महाज्ञानी ही इस ज्ञान क अधिकारी होते हैं। भगवान् महावीर अर्हत् पद को प्राप्त थे, बोधि सत्व को प्राप्त थे। इसीलिए वे इस ज्ञान क अधिकारी हैं। उन्होंने अपनी साधना के दौरान जिस सत्य का अनुभव किया, वही आर्य सत्य कहलाए। बुद्ध ने जीवन को दुःखमय माना। साथ ही इसका उपचार भी निर्दिष्ट किया। जैसे चिकित्सा शास्त्र में रोग, रोग हेतु निदान (आरोग्य) और रोगनिदानोयाय (भैषज्य) है, उसी प्रकार मोक्षोपाय (दुःख निरोध का उपाय या मार्ग) ये चार सत्य हैं। जैसे वैद्य रोगी की नाड़ी को देखकर रोग एवं रोग के कारण को जानकर तथा उसके उपचार को समझकर औषधि से उसके रोग को दूर करता है, वैसे ही सम्यक् संबुद्ध भी सत्वों के दुःख, उसका हेतु, निदान और निदान के उपाय जानकर चार आर्य सत्यों को बतलाते हैं। इसी कारण बुद्ध को महाभिषक् (वैद्यराज) भी कहा गया है। उन्होंने तत्त्व मीमांसा के प्रवर्तन पर विशेष ध्यान नहीं दिया किन्तु बाद के आचार्यों ने तत्त्व मीमांसा का पूरा विकास कर लिया। आर्य सत्य निम्न हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. दुःख– जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। सभी वस्तुएं जो उत्पन्न हुई हैं, दुःख, अनित्य और अनात्म रूप हैं। दुनिया जन्म, जरा, मरण, व्याधि से और अप्राप्य वस्तु की कामना से दुःख भोग रही है। पांचों ही उपादान स्कन्ध यथा– रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान भी जिससे यह सत्व (प्राणी का जीवन) बना हुआ है, वह भी दुःख है।

2. दुःख समुदय–दुःख समुदय का अर्थ है दुःख का कारण। है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता और उस कारण से अन्य कार्य उत्पन्न होता है। दुःख समुदय की जड़ें बहुत गहरी हैं। इन्हें द्वादश निदान या प्रतीत्य समुत्पाद कहा जाता है। इसमें ये बारह कड़ियां (निदान) हैं। अविद्या से संस्कार तथा संस्कार (कर्म) से क्रमशः विज्ञान (चेतना), नामरूप, षडायतन (पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन तथा उनके विषय), स्पर्श (इन्दियों और विषयों का सम्पर्क), वेदना (ऐन्द्रिय ज्ञान), तृष्णा (इच्छा), उपादान (अस्तित्व का मोह), भव (अस्तित्व), जाति पुनर्जन्म तथा जरा–मरण (दुःख अथवा शब्दार्थतः बुढ़ापा और मृत्यु) की उत्पति होती है। सबसे पहली कड़ी अविद्या है जो व्यक्ति के अस्तित्व का मूल कारण है। यही संसार का दुष्चक्र है जिसे भव–चक्र भी कहा जाता है। इस प्रतीत्य समुत्पाद से जीवन सम्बंधी विकास क्रम के बौद्ध दृष्टिकोण का पता चलता है। यह जगत् सृष्टि को स्पष्टतः घोषित करता है।

3. दुःख निरोध–निःशेष (समस्त) दुःख के रोध अर्थात् रुक जाने को दुःख निरोध कहते हैं। दुःख के कारण का नाश हो जाना 'दुःख निरोध' है। दुःख निरोध में तृष्णा का निरवशेष प्रहान हो जाता है। इस तृष्णा के नाश से ही दुःख से मुक्ति हो सकती है। निर्वाण ही बौद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य है। इसका अर्थ है बुझ जाना या ठंडा पड़ जाना। जब यह प्राप्त हो जाता तब पांच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) के संघातों के बने रहने की यह अविछिन्न प्रक्रिया सदा के लिए समाप्त हो जाती है।

4. निरोध गामिनी प्रतिपद्–प्रतिपद् का अर्थ है–मार्ग। दुःख निरोध करने के उपायभूत मार्ग को ही दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद् कहते हैं। यह मार्ग दुःख निरोध तक पहुंचाने का मार्ग है। निर्वाण प्रत्येक प्राणी का गंतव्य स्थान है तो उसके लिए मार्ग की कल्पना भी उचित प्रतीत होती है। इस मार्ग को **आष्टांगिक मार्ग** कहते हैं जिन्हें प्रज्ञा, शील और **समाधि** के अंतर्गत समाहित किया गया है। **प्रज्ञा** के अंतर्गत सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प हैं। **शील** के अंतर्गत सम्यक् वाक, राग्यक् कर्गांत, राग्यक् आजीविका और रागधि के अंतर्गत राग्यक् व्यायाग, राग्यक् रगृति और राग्यक् रागाधि आते हैं।

5.9 आष्टांगिक मार्ग

जैसे नाम से ही स्पष्ट है कि आष्टांगिक मार्ग मार्ग यानि आठ मार्ग। ये आठ मार्ग दुःखनिरेध के उपाय हैं। साधक इनका सहारा लेकर अपने गंतव्य तक पहुंचता है। अतः अष्टांगिक मार्ग को और अधिक सरलता से निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

1. **सम्यक् दृष्टि**–अभिधम्मपिटक के विभग ग्रन्थों में चार आर्य सत्यों के ज्ञान को ही **'सम्यक् दृष्टि'** कहा गया है।
2. **सम्यक् संकल्प**–इसका तात्पर्य यथार्थ विचार या चिन्तन है।
3. **सम्यक् वाक्**–इसका अर्थ है–यथार्थ वचन।
4. **सम्यक् कर्मान्त**–यथार्थ कार्य। हिंसा, चोरी, काम, मिथ्याचार से विरत रहना, सदाचारी बनना।
5. **सम्यक् आजीव**–यथार्थ आजीविका। जीवन यापन के सत्साधन।
6. **सम्यक् व्यायाम**–सम्यक् पुरुषार्थ। अकुशल धर्मों का त्याग करना, कुशल धर्मों को अर्जित करना।
7. **सम्यक् स्मृति**–यथार्थ स्मृति। लोभ और दौर्मनस्य को दूर कर काय, वेदना, चित्त और धर्म अर्थात् मन के विषयों के प्रति जागरूक, प्रयत्नशील, ज्ञानयुक्त, सावधान रहना ही सम्यक् स्मृति है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8. **सम्यक् समाधि**–कुशल चित्त की एकाग्रता को 'सम्यक् समाधि' कहा गया है। समाधिस्थ भिक्षु क्रोध, आलस्य, पश्चाताप और संदेह से विरत होता है। उन्हें सांसारिक लोभ थोड़ा भी नहीं डिगा सकते। वह सत्वों पर महाकरुणा पूर्ण चित्त से विचरण करता है। वह उपेक्षावान होता है। वह पंचस्कन्धों को दुःख, अनित्य और अनात्म रूप समझता है। योगी, भिक्षु सभी संस्कारों का शमन कर, तृष्णा का प्रहाण कर निर्वाण लाभ करता है।

यह अष्टांग मार्ग बौद्ध धर्म का आचार मार्ग है। 'शील, 'समाधि' और 'प्रज्ञा' ये तीनों बौद्ध धर्म की आधारशिला हैं जिनके अन्तर्गत आठों ही अंग समाहित हो जाते हैं। इनके अभ्यास से तृष्णा का निरोध किया जाता है। सभी पापों का न करना, सभी अकुशल कर्मों को नहीं करना, सभी तृष्णाओं का निरोध करना ही शील है। तृष्णा निरोध से समस्त सांसारिक विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं। क्लेशों का निरोध हो जाता है और शील के आचरण से भिक्षु अर्हत्व प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

5.10 ध्यान के उद्देश्य

बौद्ध योग का अतिम लक्ष्य है निर्वाण की प्राप्ति। इसमें भी दो साधन बताए गए हैं–शील विशुद्धि और चित्त विशुद्धि। शील विशुद्धि का अर्थ है सत्कर्मों के द्वारा नैतिक शुद्धि और चित्त विशुद्धि कक ाअर्थ है चित्त कीर शुद्धता। इस संबंध में हीनश्यान और महायान दोनों ग्रंथों में इससे संबंधी विचारधारा देखने को मिलती है। हीनश्यान में अर्हत् पद की प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अतः समाधि प्राप्ति इसमें प्रधान कारण है। इसी प्रकार महायान में बुद्धत्व की प्राप्ति चरम उद्देश्य है। साधक ाक अंति लक्ष्य बुद्ध बनना है। यह सिर्फ एक जन्म का फलित नहीं वरन् अनेक जन्मों के कमफफलों का परिणाम है। अतः महायालन में बुद्धत्व की प्राप्ति की प्राप्ति के निमित्त ही ध्यान–योग का विशेष महत्त्व है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धपंरपरा में परम पद की प्राप्ति ही ध्यान योग का परम लक्ष्य है, उद्देश्य है।

5.11 समाधि

समाधि का अर्थ सम + अधि अर्थात् सम अवस्था में रहना। समाधि की शास्त्रीय परिभाषा यह है कि पवित्र मन को एक (ध्यान–वस्तु/आलम्बन) पर स्थिर करना। इसमें पवित्र शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि मन पवित्र नहीं है तो भले ही वह एक वस्तु पर स्थिर हो जाये। इसका परिणाम सुखद नहीं होता। वह सम्यक् समाधि नहीं है। अतः पवित्रता आवश्यक है। समाधि का पारिभाषिक अर्थ है चित्त और चैतसिक एकाग्रता का दृढ़ स्थिरीकरण। एकाग्रता के अभ्यासी को सदा प्रसन्न, संतुष्ट, मुदित और आनन्दमय रहना चाहिए। यह आनन्दमय या सुखमय अवस्था समाधि का कारण है। कहा गया है कि समाधि के दौरान मनोशारीरिक क्रियाएं थम जाती हैं और चेतना जागृत अवस्था में रहती है। समाधि में चित्त की समस्त अकुशल वृत्तियों का निरोध किया जाता है। चित्त एकाग्र हो जाता है, शांत हो जाता है और कुशल कर्मों की ओर अभिमुख होने से प्रज्ञा लाभ करता है। शील और समाधि से प्रज्ञा की उपलब्धि होती है। प्रज्ञा लाभ से अविद्या का नाश होता है। अभिधम्म कोश भाष्य में प्रज्ञा भी तीन प्रकार की कही गई है, श्रुतमयी, चिंतामयी और भावनामयी। भावनामयी प्रज्ञा समाधिजन्य है और श्रेष्ठतम है। श्रुतमयी और चिन्तामयी प्रज्ञा से भिक्षु ध्यान–समाधि का अधिकारी होता है। 'दीघनिकाय' के सामाफलसुत्त में आता है कि प्रज्ञा प्राप्त करने वाले व्यक्ति को अनेक प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त होती हैं। प्रज्ञावान सत्वों (जीवों) के पूर्वजन्म का ज्ञान करने की शक्ति रखता है परचित्त ज्ञान की उसमें शक्ति होती है, उनकी ज्ञानेद्रियां दिव्य हो जाती है तथा वह दुःख क्षय (आश्रवक्षय–ज्ञानदर्शन) से सम्पन्न होता है।

5.11.1. समाधि के प्रकार–समाधि के दो प्रकार बताये गये हैं– 1. लौकिक समाधि और 2. लोकोत्तर समाधि। लौकिक समाधि काम, रूप, अरूप आदि विषयों के बारे में कुशल चित्त की एकग्रता है। इस समाधि के मार्ग को शमथ ध्यान कहते हैं। इसमें रूपी तत्त्वों पर ध्यान किया जाता है। इसमें पांच आन्तरिक बाधाएं (निवरण) शान्त हो जाती हैं। लोकोत्तर समाधि मार्ग को विपश्यना ध्यान कहते हैं। यह साधक को निर्वाण मार्ग से संप्रयुक्त करता है। इसमें दुःख, अनित्य और अनात्मा को इतनी सूक्ष्मता से देखा जाता है कि मन तृष्णा और आसक्ति से रहित हो जाये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.11.2. समाधि का अभ्यास–समाधि के विकास का सन्बन्ध अभ्यास से है। साधक के सामने अभ्यास का पूरा चित्र स्पष्ट होना चाहिए। उसे अपनी सहजात प्रज्ञा (सामान्य) को विपश्यना प्रज्ञा में विकसित करना होता है। अतः सहजात प्रज्ञा से सम्पन्न साधक शील की भूमि पर दृढ़ता से खड़ा रहे। प्रज्ञा प्राप्ति के पूर्व एकाग्रता (समाधि) का अभ्यास अपेक्षित है। यह विपश्यना प्रज्ञा का आधार है। अभ्यास के अन्तर्गत चार पहलू हैं। ये शक्ति और सफलता के चार आधार हैं–

1. हार्दिक अभिरुचि और प्रामाणिकता।
2. दृढ़ संकल्प–अभ्यास के प्रति पूर्ण समर्पण।
3. दृढ़ रुचि– प्रारम्भ से अन्त तक अभ्यास में लगे रहने की वृत्ति।
4. जिज्ञासा वृत्ति और स्पष्टता–अभ्यास काल में उत्पन्न समस्याओं का बौद्धिक स्तर पर समाधान करने की क्षमता।

5.11.3. भौतिक बाधाएं–जो साधक समाधि के अभ्यास के लिए कृत संकल्प है वह सबसे पहले भौतिक बाधाओं को दूर करे। ये लघु और वृहत् दोनों प्रकार की होती हैं। प्रधान रूप से ये दुर्बलचित्त साधक को नाना प्रकार से पतन की ओर ले जा सकती है। बाधाएं दस हैं। इन्हें 'पलिबोध' कहा गया है।

1. **आवास पलिबोध**–इसमें साधक अपने भविष्य के निवास स्थल के विषय में चिन्ता करता है।
2. **कुल पलिबोध**–साधक द्वारा अपने शिष्यों, सहयोगियों के बारे में सोचना।
3. **लाभ पलिबोध**–सुख–सुविधाओं व लाभों के बारे में सोचना।
4. **गण पलिबोध**–अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के बारे में सोचना।
5. **कर्म पलिबोध**–कर्म कार्य अधूरे हों जिनके लिए वह उत्तरदायी है, उसके बारे में सोचना।
6. **मार्ग पलिबोध**–यात्रा से उत्पन्न होने वाली चिन्ता।
7. **जाति पलिबोध**–माता–पिता व दूर के संबंधियों के बारे में सोचना।
8. **अबाध पलिबोध**–अपरिचित्त साधना मार्ग को अपनाने के कारण साधक का रोगग्रस्त हो जाने का भय।
9. **ग्रन्थ पलिबोध**–अत्यधिक स्वाध्याय में ही लगे रहना।
10. **इद्धि पलिबोध**–चमत्कारों के अभिभूत होकर साधना करना।

उपरोक्त दस बाधाएं समाधि (चित्त की स्थिरता) के विकास के मार्ग में पड़ी हुई दस चट्टाने हैं। जो साधक इनको सम्पूर्ण रूप से हटाकर अपना मार्ग निष्कंटक नहीं कर लेता वह चित्त की स्थिरता को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए इन सब बाधाओं को नष्ट करना साधना का प्रारम्भिक बिन्दु है।

5.11.4. ध्यान–वस्तु–समाधि के विकास के लिए एक ध्यान–वस्तु का चुनाव किया जाता है। यह चुनाव कल्याण मित्र (गुरु) साधक की प्रकृति के अनुसार करता है। उस ध्यान वस्तु पर साधक चित्त को लगाने का अभ्यास करता है। बुद्धघोष ने ध्यान वस्तुओं का विस्तृत वर्णन किया है। इन्हें कर्मस्थान भी कहा गया है। इनकी संख्या चालीस बताई गई है जो अधिक भी हो सकती है।

1. **दस कृत्सन (कसिण)**–पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, नील, पीत, रक्त, श्वेत, आलोक और परिछिन्नाकाश।
2. **दस अशुभ कर्म स्थान**–ये दसों मृत शरीर से संबंधित हैं। ये हैं–फूला हुआ शव, नीला पड़ा शव, पीब से भरा शव, अंग–भंग से कुत्ते या सियारों से छिन्न–भिन्न शव, बिखरे हुए अंग वाला शव, कुछ नष्ट और कुछ छिन्न–भिन्न अंग वाला शव। खून से ढका हुआ शव, कीड़ों से भरा हुआ शव, शव की गठरी अथवा अस्थिपंजर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. **दस अनुस्मृतियां**–बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, मरणानुस्मृति, कायगतानुस्मृति, आनापानानुस्मृति, उपशमानुस्मृति।
4. **चार ब्रह्मविहार**–मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।
5. **चार अरूपायतन**–आकाशानन्त्यायतन (अंनत आकाशायतन), विज्ञानानन्त्यायतन (अंनत विज्ञानायतन), अकिंचन्यायतन (विज्ञान के अभाव का आयतन), नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (पूर्व चार स्कंधों के ज्ञान से मुक्त होना)। ये चारों अरूप लोक में ले जाने के साधन हैं।
6. **आहार में प्रतिकूलता** की संज्ञा।
7. **चारों धातुओं का व्यवस्थापन** अर्थात् शरीर में चार धातुओं का निश्चय करना।

5.12 साधक की प्रकृति

ध्यान साधना के लिए स्वयं अपनी प्रकृति का ज्ञान, उसके अनुकूल वातावरण व ध्यान–वस्तु का समन्वय आवश्यक है। साधना के प्रारम्भ काल में स्थान और वातावरण का अपना महत्त्व होता है। ध्यान साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं की प्रकृति तथा वातावरण से होने वाली प्रतिक्रिया को जाने। साधक की प्रकृति को छः भागों में बांटा गया है, उन्हें चारित्र कहा गया है–

1. **रागात्मक चारित्र**–इच्छा और आसक्ति से भरा हुआ मन वाला व्यक्ति।
2. **द्वेषात्मक चारित्र**–स्वभाव चिड़चिड़ा और बिना किसी कारण के उत्तेजित होने वाला।
3. **मोहात्मक चारित्र**–आलसी और अक्रियाशील व्यक्ति।
4. **श्रद्धात्मक चारित्र**–प्रत्येक बात पर विश्वास और श्रद्धा करने वाला।
5. **बुद्धयात्मक चारित्र**–जिज्ञासु व्यक्तित्व।
6. **वितर्कात्मक चारित्र**–ऐसे व्यक्ति का चित्त सहज ही अशान्त हो जाता है। चिन्तन अव्यवस्थित होता है। सदा भटकता रहता है।

संक्षेप में रागात्मक प्रकृति वाला व्यक्ति इच्छाओं से पराभूत होता है। अतः उसे उनके निवारण के लिए अमनोज्ञ ध्यान वस्तुओं का व्यवहार करना चाहिए। द्वेषात्मक प्रकृति वाला व्यक्ति सहज कुपित हो जाता है। अतः उसे स्वच्छ और सुन्दर वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए। मोहात्मक प्रकृति वाला आसक्ति से ग्रस्त होता है। इसके निवारण के लिए उसे विशाल खुले और प्रकाशमय आवास अपेक्षित होते हैं। श्रद्धात्मक प्रकृति वाला पुरुष बहुत जल्दी विश्वास करने वाला होता है अतः उसे निश्चित नियमों पर चलना चाहिए। बुद्धयात्मक प्रकृति वाला बुद्धि को प्रधानता देता है। उसे अपनी बुद्धि का यथार्थ उपयोग कर अपने स्वयं के विषय में सोचना चाहिए। वेतर्कात्मक प्रकृति वाले मनुष्य को चाहिए कि वह चिन्तन को वृद्धिगत करने वाले वातावरण का निर्माण करे या स्वीकार करे। जब ध्यान साधक अपने आप का परीक्षण कर अपनी वास्तविक प्रकृति को जान लेता है, तब उसे अपने अनुकूल वातावरण के चुनाव में कोई कठिनाई नहीं होती और ध्यान–वस्तु का चुनाव भी यथार्थ होता है।

5.13 प्रकृति के अनुरूप ध्यान वस्तु

विभिन्न प्रकृति वाले व्यक्तियों की ध्यान–वस्तु निम्न है–

1. **रागात्मक प्रकृति**–दस अशुभ कर्मस्थानों में से एक।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. **द्वेषात्मक प्रकृति**–चार अशुभ में से एक या चार असीम में से एक।
3. **मोहात्मक प्रकृति**–चतुर्धातु व्यवस्थापन का विश्लेषण–शरीर के चारों धातुओं (चार महाभूत) का निश्चय।
4. **श्रद्धात्मक प्रकृति**–दस अनुस्मृतियों में एक।
5. **बुद्धयात्मक प्रकति**–कोई भी वस्तु।
6. **वितर्कात्मक प्रकृति**–आनापानसती या कसिण।

5.14 उपयुक्त वातावरण

साधक की साधना हेतु उपयुक्त वातावरण के लिए 'सत्पाद धर्म' का ज्ञान आवश्यक है। वे सात हैं–

1. **उपयुक्त आवास स्थल**–साधना के लिए आवास स्थल भी साधना के अनुरूप होना चहिए।
2. **उपयुक्त स्थल**–आवास स्थल जहां हो, उसके आसपास का स्थान भी साधना के अनुकूल होना चाहिए।
3. **उपयुक्त वाणी**–वाणी उचित एवं मधुर होनी चाहिए।
4. **उपयुक्त मनुष्य समवाय**–साधक के आसपास का मनुष्य समवाय भी साधना के अनुकूल होना चाहिए।
5. **उपयुक्त भोजन**–साधना के अनुकूल भोजन होना चाहिए।
6. **उपयुक्त वायुमंडल**–न अधिक गर्मी, न अधिक सर्दी न अधिक वर्षा हो। अर्थात् वायुमंडल सम होना चाहिए।
7. **उपयुक्त आसन**–साधना हेतु उचित आसन का चुनाव हो जिसमें साधक अपनी साधना को निर्बाध रूप से कर सके।

अतः ये सात बातें साधक के विकास में सहायक बनती हैं।

5.15 समाधि की भूमिकाएं

समाधि की प्राप्ति क्षणिक अभ्यास का फल नहीं है। अपितु वह अनेक वर्षों के तीव्र व सतत अभ्यास का सुफल है। बौद्ध योग में ध्यान की प्रारम्भिक अभ्यास की अवस्थाओं से लेकर समाधि की उच्चतम अवस्थाओं का गहन विश्लेषण किया गया है। इसे समाधि की भूमि कहा गया है। समाधि की प्रथम भूमिका उपचार समाधि की है। इसमें साधक ध्यान के समीप पहुंच जाता है। इसमें बाधाएं नष्ट हो जाती हैं। समाधि की अगली भूमिका अर्पणा समाधि की है। इसमें ध्यानांग पूर्ण विकसित हो जाते हैं।

1. **उपचार**–साधक स्वयं की प्रकृति के अनुरूप किसी एक ध्यान–वस्तु (कर्मस्थान) पर चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करता है। इसे परिकर्म भावना कहा गया है एवं उस ध्यान–वस्तु या प्रारम्भिक आलम्बन को परिकर्म–निमित्त। परिकर्म–निमित्त पर चित्त को स्थिर करने के अभ्यास से ध्यान–वस्तु चित्त में प्रतिबिम्बित होने लगती है। इसे उग्गह निमित्त कहा गया है। उग्गह निमित्त पर अभ्यास से ध्यान–वस्तु उसी प्रकार नेत्रों के सामने भीतर स्फुटित होने लगती है जिस प्रकार वह बाहर भासित होती है। इसे प्रतिभागनिमित्त कहा गया है परन्तु अभी तक चित्त में ध्यान–वस्तु स्थिर नहीं हो पाती। इस दशा में चित्त उस बालक के समान है जो अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता; अभ्यास करता है पर गिर पड़ता है। इस प्रकार निमित्त के तीन प्रकार हैं। जब ध्यान साधक ध्यान वस्तु के रूप में किसी का चुनाव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करता है तो कुछ ध्यान–वस्तुओं के साथ तीनों निमित्त नहीं मिलते। ऐसी ध्यान–वस्तुएं समाधि (चित्त की स्थिरता) में परिणत नहीं होती। जिन ध्यान–वस्तुओं में ये तीनों निमित्त कार्यरत रहते हैं, वे समाधि में परिणत होती हैं।

2. अर्पणा–अपर्णा का अर्थ है स्वयं को अर्पित कर देना, चित्त का विषय के लिए अर्पित कर देना। इस भमि में चित्त में दृढ़ता आ जाती है। एक बार जब प्रतिभाग निमित्त उत्पन्न हो जाता है तब उसका संरक्षण बहुत आवश्यक है। यद्यपि इस अवस्था में कोई बाधाएं नहीं आती फिर भी समाधि या अर्पणा की स्थिति बनती बिगड़ती रहती है। जब पांच ध्यानांग स्थिर हो जाते हैं तब अर्पणा समाधि अथवा शमथ–ध्यान की स्थिति प्राप्त होती है। इस ध्यान में चित्त की पांच वृत्तियों की प्रधानता रहती है जिन्हें ध्यान के पांच अंग भी माना गया है– वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। समाधि के विषय में चित्त का प्रथम प्रवेश **वितर्क** कहलाता है तथा उस विषय में चित्त का अनुमज्जन करना **'विचार'** है। इससे चित्त में जो आनन्द उत्पन्न होता है इसे **प्रीति** कहते हैं। मानस आह्लाद के अनन्तर शरीर में एक प्रकार के समाधान या शान्ति का भाव उदित होता है। इसे **सुख** कहते हैं। विषय में चित्त का बिलकुल समाहित हो जाना जिससे वह किसी अन्य विषय की ओर भटककर भी न जाये, उसे **एकाग्रता** कहा गया है। इन्हीं पांचों के उदय और ह्रास के कारण बौद्ध धर्म में ध्यान के चार भेद स्वीकृत किये गये हैं।

ध्यान के कुछ बाधक तत्त्व भी बताए हैं। बाधक तत्त्व का अर्थ है–वैसे तत्त्व जो मन की शान्ति को भंग करते हैं, उसके एकत्व को चुनौती देते हैं। बाधाएं अनेक हैं–

1. **कामछन्द**–मनोज्ञ विषयों के प्रति अनुबन्ध, इसका प्रतिपक्ष है त्याग।
2. **व्यापाद**– द्वेष इसका प्रतिपक्ष है अद्वेष।
3. **स्त्यानगृद्ध**–मानसिक व चैतसिक आलस्य, प्रतिपक्ष है आलोक संज्ञा।
4. **औद्धत्य कौकृत्य**–व्याकुलता, विक्षेप इसका प्रतिपक्ष है अविक्षेप, एकाग्रता।
5. **विचिकित्सा**–संशयशील अवस्था इसका प्रतिपक्ष है धर्म सम्बंधी विचार।

5.15.1 ध्यान के प्रकार– ध्यान के चार प्रकार ध्यानांग के आधार पर किए गये हैं–

1. प्रथम ध्यान के पांचों ध्यानांग–वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता।
2. दूसरे ध्यान में तीन ध्यानांग–प्रीति, सुख और एकाग्रता।
3. तीसरे ध्यान में दो ध्यानांग–सुख और एकाग्रता।
4. चौथे ध्यान में दो ध्यानांग–एकाग्रता और समता।

जब साधक को प्रथम ध्यान की अवस्था प्राप्त होती है तब मन ध्यान की बाधक सभी अवस्थाओं से मुक्त हो जाता है और वह यथार्थ में एकाग्र हो जाता है। प्रतिभाग निमित्त के काल तक यह लक्षण परिपूर्ण नहीं होता। यह परिपूर्ण होता है शमथ निमित्त के उदय होने पर। शमथ निमित्त का अर्थ है पांच ध्यानांग। जब सब बाधाएं दूर हो जाती हैं तब मन प्रतिभाग निमित्त को छोड़कर ध्यानांगों को ग्रहण करता है। ध्यानांग ही एकाग्रता के सबल आधार हैं। जब शमथ ध्यान का निमित्त प्राप्त होता है तब मन उसमें लीन हो जाता है। मन अपने एकत्व का अनुभव करता है। साधक संतुष्टि की शक्ति और आनन्द को जान लेता है कि संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसे अपने लक्ष्य से हटा सके। इसलिए मन की यह अवस्था अर्पणा समाधि कहलाती है। यहां मन ध्यान को प्राप्त हो जाता है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अब उसे आनन्द का अनुभव होता है। इस स्थिति में पांचों मानसिक अवस्थाएं–श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा एक होकर एक ही लक्ष्य की ओर गतिशील होती हैं और वे ध्यान रस में लीन हो जाती हैं। यहां पांचों अवस्थाओं पर मन का पूर्ण नियंत्रण हो जाता है। मन को ध्यान रस में संतुष्टि का अनुभव होता है वह इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता क्योंकि मन प्रीति और सुख के आकृष्ट होता है और वितर्क, विचार और उपेक्षा की शक्ति के कारण मजबूत हो जाता है। एक शब्द में ध्यान मन की निर्वाण अवस्था है।

ध्यान में पांचों ध्यानांग उपस्थित रहते हैं। प्रथम ध्यान में मन पूर्व से शांत नहीं होता। दूसरे ध्यान में तीन ध्यानांग होते हैं– प्रीति, सुख और एकाग्रता। इसमें वितर्क और विचार हट जाते हैं। जब साधक यह अनुभव करता है कि पांचों ध्यानांगों में वितर्क और विचार बहुत स्थूल है वह दूसरे प्रकार से ध्यानांगों पर एकाग्र होता है। ज्यों–ज्यों वितर्क व विचार से दूर हटता है शेष ध्यानांग बहुत स्पष्ट होते चले जाते हैं। अब मात्र तीन ध्यानांग शेष रहते हैं और वह ध्यान की ऊंची अवस्था को प्राप्त हो जाता है। तीसरे ध्यान में दो ध्यानांग होते हैं। यहां प्रीति को भी हटा दिया जाता है। अब साधक अनुभव करता है कि प्रीति भी स्थूल है और इसको छोड़ने पर मन और अधिक शान्त हो जायेगा। वह प्रीति को छोड़ सुख में एकाग्र होता है। उसे पवित्र सुख का अनुभव होने लगता है। चौथे ध्यान में भी दो ध्यानांग हैं। यहां सुख के बदले समता आ जाती है। यहां साधक अनुभव करता है कि सुख भी अपेक्षाकृत स्थूल है और वह मन को चंचल बनाता है। मन को शांत करने के लिए वह आगे बढ़ता है। वह सुख की अनुभूति को उपशान्त करता है। अब समता की अनुभूति मात्र शेष रहती है। इस अवस्था में मन स्थिर और शान्त हो जाता है। वह समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है। उसमें न राग रहता है, न द्वेष। यहां जागरूकता और एकाग्रता रहती है।

5.16 विपश्यना ध्यान

विपश्यना का अर्थ है वि + पश्यना। अर्थात् विशेष रूप से देखना। विपश्यना प्रज्ञा का मार्ग है। इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं। इस मार्ग का अनुगामी विपश्यनायानिक कहलाता है। निर्वाण को प्राप्त करने के लिए शमथ ध्यान के पश्चात् विपश्यना ध्यान की वृद्धि करना आवश्यक है। इसके बिना अर्हत् पद में प्रतिष्ठा नहीं होती। विपश्यना ध्यान का मार्ग शमथ की ओर ले जाने वाली समाधि से भिन्न है। इसलिए जो साधक प्रज्ञा को विकसित करना चाहते हैं, उसे ध्यानों के क्रम से गुजरने की आवश्यकता भी नहीं है। उसे प्रज्ञा के आधारभूत समाधि का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि वह दुःख–मुक्ति के उद्देश्य को लेकर चलता है। उसमें विशेष चामत्कारिक शक्तियों को प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं है।

विपश्यना एक प्रकार का विशेष साक्षात्कार है, दर्शन है। इसके अंतर्गत इस ज्ञान का उदय होता है कि जो वस्तुएं उत्पन्न हुई हैं वे अनित्य, दुःखमय और अनात्म रूप हैं। बौद्धागम के अनुसार पुद्गल (जीव/सत्व/प्राणी/जीवन/व्यक्तित्व) पांच स्कन्धों– रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का संज्ञात है। यह स्कन्ध पंचक क्षण–क्षण में उत्पद्यमान और विनश्यमान हैं, अनित्य हैं। यह दुःखमय है। क्लेशवश (तृष्णा) इसकी उत्पत्ति होती है। दुःख का अंत करने में प्रज्ञा की प्रधानता है। जो संस्कृत धर्मों को अनित्यता, दुःखता और अनात्मता के रूप में देखता है, वह यथार्थभूतदर्शी है, उसे विपश्यना ज्ञान प्राप्त होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विपश्यना साधना के अंग

विपश्यना साधना के चार अंग हैं–

1. **कायानुपश्यना**–अपने अन्दर और बाहर काया के प्रति जागरूक रहना, काया को देखना कायानुपश्यना है। चलना, खड़ा होना, बैठना, लेटना आदि शरीर के क्रिया–कलापों के प्रति जागरूक रहना अर्थात् जिस–जिस अवस्था में शरीर होता है, उस–उस अवस्था को जानना और जानकर यह समझना कि इन क्रियाओं को करने वाला कोई नहीं है, कोई आत्मा नहीं है, क्रिया मात्र है। क्रियाओं के प्रति जागरूक रहना तथा जानते हुए प्रत्येक क्रिया–कलापों को करना 'कायानुपश्यना' है।
2. **वेदनानुपश्यना**–काया के भिन्न–भिन्न अंगों में अनुभूत होने वाली समस्त सुखद व दुःखद अथवा असुखद–अदुःखद संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहना वेदनानुपश्यना है।
3. **चित्तानुपश्यना**–चित्त में उठने वाली विभिन्न अच्छी–बुरी वृत्तियों के प्रति, उनके गुण, धर्म, स्वभाव के प्रति जागरूक रहना चित्तानुपश्यना है।
4. **धर्मानुपश्यना**–साधक अन्ततः काया, संवेदना, चित्त और चित्तवृत्तियों की सीमाओं से परे निर्वाण धर्म को साक्षात्कार करना धर्मानुपश्यना है।

सप्त विशुद्धियां

विपश्यना मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए सप्त विशुद्धियों को निर्दिष्ट किया गया है जिससे साधक विपश्यना मार्ग के फल की प्राप्ति कर सकता है। ये विशुद्धिया हैं–

1. शील विशुद्धि
2. चित्त विशुद्धि
3. दृष्टि विशुद्धि–नाम रूप का यथादर्शन।
4. कांक्षा वितरण विशुद्धि–संशयों को उत्तीर्ण कर नाम–रूप के हेतु का परिग्रह।
5. मार्गा–मार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि–मार्ग और अमार्ग का ज्ञान और दर्शन
6. प्रतिपत्तिज्ञानदर्शन शुद्धि– आष्टांगिक मार्ग का ज्ञान और प्रत्यक्ष साक्षात्कार।
7. ज्ञान दर्शन विशुद्धि–स्रोतापत्ति, सकृदागामि, अनागामि और अर्हत् मार्ग का ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि बौद्ध परंपरा में ध्यान योग का अपना विशेष महत्त रहा है जिसका पालन कर साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.17 अभ्यासार्थ प्रश्न

I. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जिन शब्द का अर्थ क्या है?
2. प्रमुख कषाय कितने हैं?
3. आश्रव क्या है?
4. अयोग का क्या अर्थ है?
5. ध्यान की कोई एक परिभाषा लिखिए।

II. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आर्तध्यान को समझाइए।
2. धर्मध्यान के लक्षण बताइए।
3. आर्य सत्यों का उल्लेख कीजिए।
4. अष्टांग गार्ग को बताइए।
5. बौद्ध योग में समाधि को समझाइए।

III. निबंधात्मक प्रश्न

1. जैन दर्शन में ध्यान के प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
2. भावनाओं को समझाइए।
3. बौद्धयोग को विस्तार से समझाइए।

5.18 संदर्भ पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन की रूपरेखा–एम. हिरियन्ना
2. भारतीय मनोविज्ञान–डॉ. सीताराम जायसवाल
3. आनापान–सती–अनुवादक–मुनि दुलहराज
4. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास–डॉ. गोविन्दचन्द्र पांडे
5. बौद्ध दर्शन मीमांसा–आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखंबा विद्याभवन वाराणसी
6. बौद्ध धर्म दर्शन –आचार्य नरेन्द्रदेव, मोतीलाल बनारस।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एम.ए./एम.एस.सी. (पूर्वार्द्ध)

विषय : योग एवं जीवन विज्ञान

प्रथम प्रत्र : विभिन्न योग पद्धतियां

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. संग्रामसिंह नाथावत**
   आचार्य, मनोविज्ञान विभाग
   एमिटी विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
2. **प्रो. ए.के. मलिक**
   पूर्व आचार्य, मनोविज्ञान विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जाधेपुर (राज.)
3. **प्रो. जे.पी.एन. मिश्रा**
   प्रो. एवं डीन, स्कूल ऑफ लाईफ साईंस,
   गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
   गांधीनगर
4. **डॉ. कामाख्या कुमार**
   सह–आचार्य,
   योग विज्ञान विभाग, देव संस्कृति विश्वविद्यालय
   शांतिकुंज–गायत्रीकुंज, हरिद्वार
5. **प्रो. समणी मल्लीप्रज्ञा**
   आचार्या, योग एवं जीवन विज्ञान विभाग
   जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)
6. **डॉ. साधना दौनेरिया**
   विभागाध्यक्ष, योग विभाग
   बरकत्तुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

लेखक

हेमलता जोशी

संपादक

मुनि धर्मेश कुमार

कॉपीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 1900

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341306 (राज.)

Printed at

M/S Nalanda Offsets, Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुक्रमणिका

इकाई संख्या	अध्याय	पृष्ठ संख्या
इकाई – 1	**योग** : उद्भव, अर्थ, परिभाषा और प्रकार (ज्ञान, भक्ति, कर्म और मंत्र योग) वेद उपनिषद् और गीता में योग – एक परिचय	01–20
इकाई – 2	**पातं जल योग (अ)** : योग का स्वरूप, चित्त वृत्तियाँ एवं निरोध के साधन, ईश्वर का स्वरूप, अन्तराय. चित्त को स्थिर करने के उपाय	21–41
इकाई – 3	**पातंजल योग (ब)** : क्रिया योग, क्लेश, अष्टांगयोग, सयम, कैवल्य का स्वरूप	42–63
इकाई – 4	**शैव योग** : दार्शनिक आधार, परम्परागत जीवनचर्या, साधना के प्रकार और स्तर, साधना की आवश्यकताएं, साधक की योग्यताएं और साधना के स्तर	64–75
इकाई – 5	**जैन एवं बौद्ध योग** : **(क) जैन योग** : दार्शनिक आधार, ध्यान की परिभाषाएं, ध्यान के प्रकार और भावना। **(ख) बौद्ध योग** :दार्शनिक आधार, आर्य सत्य, अष्टांगिक मार्ग, ध्यान के उद्देश्य साधक की प्रकृति, साधना हेतु उचित वातावरण।	76–105

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun